महाकविश्रीकालिदासविरचितम्

रघुवंशकाव्यम्

(सर्गाः २, ३, ४)

महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया
सञ्जीवन्या समेतम् ।

दण्डान्वय-प्रश्नपत्र-भूमिकादिभिः समन्वितम् ।

श्रीमन्नालाल अभिमन्यु एम० ए०
इत्यनेन
विरचितया हिन्दीटीकया समलङ्कृतम् ।

द्वितीयं संस्करणम् ।

तच्च
काशीस्थ 'संस्कृतबुकडिपो' इत्यस्याधिपैः
मास्टरखेलाड़ीलालऐण्डसन्स
महानुभावैः
'मास्टरप्रिण्टिङ्ग' वर्क्साभिध मुदायन्त्रालये
मुद्रापितम् ।

मूल्यं १४ आणकाः ।

[All rights reserved for ever by the Publisher.]

Publisher:—

N Yadava Proprietor, Master Khelari Lal & Sons.

Sanskrit Book Depot, Kachauri Gali,

Benares City.

Printer:—

M.L. Abhimanyu, M. A., Master Printing Works.,

Bulanala, Benares City.

कवि-कुल-कुमुद-कलाधर कालिदास के प्रधान महाकाव्यों में रघुवंश प्रतिष्ठा के उच्च आसन पर आसीन है। इसमें दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक सूर्यवंशीय राजाओं का वर्णन १९ सर्गों में किया गया है। इसमें सविशेष रूपसे 'उपमा कालिदासस्य' की छटा पायी जाती है। कालिदास की विशिष्ट प्रतिभा, उनका भौगोलिक ज्ञान, काव्यों की समालोचना, रघुवंश के आधार-ग्रन्थ, जन्मभूमि निर्णय, कालनिर्णय, रघु दिग्विजय और समुद्रगुप्त दिग्विजय की तुलना—आदि बातों का समावेश (१) स्थानाभाव (२) अप्रासङ्गिक (३) प्रथमा के परीक्षार्थियों के अनुपयुक्त होने के कारण, नहीं किया जायगा। यह पुस्तक चार सर्गों तक ही प्रकाशित की गयी है क्योंकि गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस की प्रथमा परीक्षा में इसके २-४ सर्ग तक नियत किए गये हैं। आरम्भ के सर्ग इतने सरल और हृदयग्राही हैं कि वे न केवल यहाँ की ही परीक्षा के लिए उपयुक्त समझे गये हैं, प्रत्युत बिहार, बंगाल, आदि प्रान्तों की परीक्षाओं में भी वे सन्निविष्ट हैं। प्रस्तुत पुस्तक को परीक्षोपयोगी बनाने के लिए यथासाध्य प्रयत्न किए गये हैं यथा—

(१) इसमें महामहोपाध्याय श्रीमल्लिनाथसूरिकृत सञ्जीवनी टीका दी गयी है। रघुवंश पर इससे बढ़कर और कोई दूसरी टीका संस्कृत-साहित्य-संसार में है ही नहीं। इसमें 'नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते' का पूर्ण विचार किया गया है। इसी लिए परीक्षा में इसके आधार पर प्रश्न पूछे जाते हैं, जैसे 'मल्लिनाथरीत्या व्याख्या विधेया' (१९३०)।

(२) इसमें दण्डान्वय दे दिया गया है, क्योंकि पिछले कई वर्षों से परीक्षा में इसके आधार पर प्रश्न पूछे जाते हैं, जैसे 'दण्डान्वयमवलम्ब्य व्याख्यायन्तामिमे श्लोकाः' (१९३१ आदि) केवलमन्वयो भावार्थश्च लेख्यः (३६,३७)

(३) इसमें हिन्दी टीका भी दे दी गयी है। इससे श्लोक के प्रत्येक शब्द का अर्थ समझ में आ जायगा। जिसके समझ में आजाने से सञ्जीवनी टीका भी लग जायगी। इससे पहिला लाभ यह होगा कि परीक्षा में टूटे फूटे संस्कृत शब्दों में विद्यार्थी लोग अपने अभिप्राय व्यक्त कर सकेंगे। दूसरा लाभ यह होगा कि परीक्षा में कभी कभी जो यह पूछा जाता है कि 'हिन्दीभाषया एतेषां वाक्यानां विशदार्थं लिख'· जैसे सन् १९३३ में पूछा गया था 'त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता' (१, २८), 'चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे' (२, ३१), 'प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम्' (४, ६४) 'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव' (४, ८६)—तो ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने में और अपने समझने में बड़ी सरलता पड़ेगी।

(४) इसमें सन् १९११ से लेकर १९३७ ई० तक अर्थात् २७ वर्षों में जो श्लोक गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज की परीक्षा में पूछे गये हैं उनके संकेत, सन् के नाम देकर, दिए गये हैं। जिनके आगे सङ्केत दिए गए हैं उन श्लोकों पर पढ़ते समय विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। परीक्षा पास करने की सबसे सरल यही विधि है कि अब तक जितने श्लोक आ चुके हैं उन्हें और उनके आगे पीछे के दो-चार उपमायुक्त श्लोकों को भी—मल्लिनाथी शैली से टीका करते हुए, हिन्दी में अर्थ समझते हुए पढ़ जाँय और जब तात्पर्य हृदयङ्गम हो जाय तो—कण्ठाग्र कर लें। अनन्तर कम से कम पाँच बार लिख डालें—जिससे लिखने का ढंग भी मालूम हो जायगा और यत्र तत्र की अशुद्धियों का परिमार्जन भी हो जायगा। प्रथमा की सम्पूर्ण आधुनिक प्रश्नावली 'मास्टर' मणिमाला सीरीज़ में प्रकाशित हुई है। इसे पं० श्रीविश्वनाथ

पाण्डेय ने सङ्कलित किया है। इससे यह जानने में बड़ी सहायता मिलेगी कि आजकल सब प्रश्नपत्र पूछने की क्या शैली है।

(५) इसमें संक्षिप्त कथा भी देदी गयी है क्योंकि परीक्षा में इसके सम्बन्ध में भी प्रश्न पूछे जाते हैं (यथा संस्कृते हिन्दीभाषायां यथेच्छं विलिख्यताम् (३६, ३७) जिन सर्गों की सम्पूर्ण कथाएँ पूछ ली गयी हैं तो उन सर्गों के आगे सन् दे दिए गए हैं। जिनमें से केवल अंशमात्र पूछे गये हैं वे अलग कर दिए गए हैं और उनके सन् भी दे दिए गए हैं। स्थानाभाव होते हुए भी जहाँ तक हो सका है वाक्य छोटे छोटे रक्खे गए हैं, जिससे अनुवाद करने में सरलता पड़े।

इस संस्करण से परीक्षार्थियों को कुछ भी सहायता मिले तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा। इसमें कुछ त्रुटियाँ—जान और अनजान में—रह गयी हैं जिनके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ। अग्रिम संस्करण में आप लोगों के सूचित करने पर उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जायगा।

परीक्षार्थियों के उत्तीर्ण होने पर हर्षित होने वाला—

मन्नालाल

संक्षिप्त कथा

द्वितीय सर्ग

राजा दिलीप को नन्दिनी से वरप्राप्ति ।

दूसरे दिन प्रातःकाल राजा दिलीप नित्यकृत्य से निवृत्त हुए । रानी सुदक्षिणा ने नन्दिनी की पूजा की । तब हिमालय के वनों में वे अकेले ही नन्दिनी को चराने के लिए ले गये । कुछ दूर तक रानी ने साथ दिया । फिर वे आश्रम में लौट आयीं । राजा जंगल में नन्दिनी की सेवा करने लगे । उसके उठने-बैठने पर इनका उठना बैठना होता था । दिन भर की सेवा के बाद सन्ध्या समय गाय को आश्रम में लिवा लाते । तब रानी अगवानी करती । राजा गुरु के चरण दाबते और रानी अरुन्धती के पैर दाबती थी । रात में नन्दिनी के सोने पर राजा सो जाते । इस तरह गाय की सेवा करते २१ दिन बीत गये । बाइसवें दिन नन्दिनी ने राजा की भक्ति की परीक्षा लेने की ठानी । अतः वह चरती हुई हिमालय की गुफा में चली गयी । राजा नन्दिनी की ओर से निश्चिन्त हो हिमालय की प्राकृतिक शोभा का निरीक्षण करने लगे । इतने में माया का एक सिंह नन्दिनी के ऊपर झपटा । नन्दिनी के डकराने की आवाज़ सुनकर राजा की नज़र उधर गयी । राजा ने देखा कि नन्दिनी पर एक शेर चढ़ा हुआ है और गाय उनकी ओर कातर दृष्टि से देख रही है । कुपित हो वे तरकस में से बाण निकालने लगे । किन्तु उनके दहिने हाथ की अँगुलियाँ बाण पर ही चिपकी रह गयीं । राजा एक दम आश्चर्य में भर गया । वह एकदम आग-बबूला हो गया । तब मनुष्य की बोली से राजा को और चकित करता हुआ शेर ठहाका मार कर हँसने लगा ।

राजा दिलीप का गोचारण–१६२४

सिंह ने कहा—'राजन् ! बस रहने दो। मुझे संसार में कोई नहीं मार सकता। मैं साधारण शेर नहीं हूँ। मैं भगवान् आशुतोष का गण हूँ।

सिंह-दिलीप संवाद
१६२२

मेरा नाम लम्बोदर है। वह देवदार जिसे आप देख रहे हैं पार्वतीजी के पुत्रतुल्य है। इसे स्वयं उन्होंने अपने हाथों से सींचा है। एक दिन किसी जंगली हाथी ने इस पेड़ के तने पर अपनी कनपटी रगड़ दी। जिससे इसकी छाल उखड़ गयी। तब पार्वतीजी को बहुत दुःख हुआ। उसी दिन से शिवजी ने जंगली हाथियों को भयभीत करने के लिए मुझे यहाँ नियुक्त किया है। उनका आदेश है कि जो पशु स्वेच्छा से तुम्हारे पास चला आवे उसे मार कर भोजन कर लेना। शंकर जी की प्रेरणा से यह गाय मेरे पास आ गयी है। अब इसे खाकर अपनी भूख बुझाऊंगा। तुम चले जाओ। गाय का छुड़ाना तुम्हारे सामर्थ्य के बाहर की बात है। अतः तुम्हारी इससे अपकीर्ति न होगी।' राजा ने उत्तर दिया कि—'हे पञ्चानन ! भगवान् शङ्कर मेरे पूजनीय हैं और गुरु की यह गाय भी पूज्य है। अतः यह सेवक अपने स्वामी की गाय अपना जीवन शेष रहते नष्ट नहीं होने देगा। तुम मुझे खा लो। मुझको खा लेने से तुम्हारी तृप्ति होगी। इस गाय के जीवित रहने से महर्षि वसिष्ठ के यज्ञादि अनुष्ठान सरलतापूर्वक होते रहेंगे।' शेर ने कहा—'तुम्हें ज़रा सी भी अक्ल नहीं है। अरे ! एक तुच्छ पशु के लिए तुम इतने बड़े साम्राज्य के वैभव का तिरस्कार कर रहे हो। देखो, अगर तुम जीवित रहोगे तो असख्य जनता का उपकार होता रहेगा। यदि गुरु की क्रोधाग्नि से डर रहे हो तो हजारों दुधारू गाएँ दे देना। वे प्रसन्न हो जायंगे।' राजा ने कहा—'तुम भी नौकर हो और मैं नौकर हूं। यदि कोई इस देवदार को—जिसकी रक्षा में तुम नियुक्त किए गए हो—आकर नष्ट करे तो क्या तुम देखते रहोगे ? तुम मेरे मित्र हो। अतः इस नाते भी तुम्हें वैसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे मेरे कर्तव्य में त्रुटि न आवे। अतएव मुझे बिना किसी संकोच के तुम खा जाओ।' शेर राजा की बातों में बँध गया।

उस के आगे अपने शरीर को रख दिया। माया का शेर अन्तर्ध्यान हो गया।

नन्दिनी ने कहा—'बेटा ! उठो। मैंने माया द्वारा तुम्हारी परीक्षा ली। नहीं तो शेर क्या, स्वयं यमराज भी मेरा बाल बाँका नहीं कर सकते। तुमसे मैं बहुत प्रसन्न हूं। कोई वर मांगो।' राजा ने कहा—'मैं अपने अनुरूप सन्तति चाहता हूँ।' नन्दिनी ने कहा—'दोने में दुह कर मेरा दूध पी लो। तुम्हें अवश्य सन्तान होगी।' राजा ने कहा—'माता ! गुरूजी की आज्ञा से मैं दुग्ध पीऊंगा।' शाम को लौटकर वशिष्ठ से उन्होंने सब हाल कहा। गुरु की अनुमति पाकर उन्होंने दूध पी लिया। दूसरे दिन प्रातःकाल अग्नि, सवत्सा नन्दिनी, अरुन्धती और वशिष्ठ की प्रदक्षिणा कर सुदक्षिणा सहित राजधानी में लौट आये। राजमहल में आने पर रानी सुदक्षिणा गर्भवती हुई।

तृतीय सर्ग

रघु का जन्म एवं राज्याभिषेक।

तब दशवें महीने महारानी के गर्भ से शुभलक्षणान्वित एक कुमार का जन्म हुआ। पिता ने उसका यथार्थ नाम 'रघु' रक्खा। राजकुमार शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की भाँति क्रमशः बढ़ने लगे। उनके चूडाकरण-उपनयन आदि संस्कार यथासमय हुए। विद्वानों से पढ़कर बहुत जल्द वे सब विद्याओं में पारङ्गत हुए। रघु के पिता दिलीप अपने समय के अद्वितीय धनुर्द्धारी थे। उन्होंने स्वयं अपने पुत्र को धनुर्वेद की शिक्षा दी। विवाह हो जाने पर वे युवराज बनाए गये। राजा दिलीपने निन्यानबे अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्न किए। जब सौंवे के लिए घोड़ा छोड़ा गया तो गुप्तरीति से इन्द्र ने उसे चुरा लिया। अन्य राजकुमारों के साथ रघु उस अश्व की रक्षा करने के लिए नियुक्त किए गये थे। वे अतीव चकित एवं चिन्तित हुए। दैव संयोग से उस समय नन्दिनी आ गयी। ज्योंही

उसके मूत्र से रघु ने आँखें धोयीं त्यों ही उन्हें दिव्य दृष्टि हो गयी। रघु ने देखा कि इन्द्र घोड़े को पूर्व की ओर भगाए लिए जा रहे हैं। उन्होंने ललकार कर पुकारा—'हे इन्द्र ! आप तो यज्ञ में भाग पाते हैं। यदि आप ही ऐसा नीच कर्म करेंगे तो यज्ञकर्म सदैव के लिए लुप्त हो जायगा। आप जैसे महापुरुषों को ऐसा करना न्यायसङ्गत नहीं है।' इन्द्र ने उत्तर दिया—'तुम्हारा कहना ठीक है। लेकिन बड़े लोगों को अपने यश की भी तो रक्षा करनी चाहिए। मैं सौ अश्वमेध यज्ञ कर चुका हूं। इसलिए अखिल भूमण्डल में 'शतक्रतु' कहलाता हूँ। तुम्हारे पिता भी—यदि यज्ञ पूरा हो जायगा तो—'शतक्रतु' कहलायंगे। मैं इसे सहन नहीं कर सकता। तुम्हारी भलाई इसी में है कि चुपके से घर लौट जा। नहीं तो तुम्हारी भी दशा सगर के पुत्रों की सी होगी।' रघुने खिलखिला कर कहा—'यदि आपने यही निश्चय कर लिया है, तो ठहरिए। बिना रघु को संग्राम में जीते हुए आप घोड़ा नहीं ले जा सकते।

रघु ने पैंतरा बदल कर एक बाण इन्द्र की छाती में मारा। इन्द्र ने भी रघु की छाती में ऐसा अव्यर्थ बाण मारा जिससे खून बहने लगा। रघु ने इन्द्र की भुजा में एक तीक्ष्ण बाण मारा। और दूसरे बाण से इन्द्र की ध्वजा काट डाली। परस्पर खूब घमासान युद्ध हुआ। आकाश से इन्द्र के बाण और पृथ्वीतल से रघु के बाण सर्पों की तरह सर-सर उड़ते थे। आकाश में देवता लोग और धरातल पर रघु के सैनिक निस्तब्ध हो रोमहर्षण युद्ध देखते थे। अन्त में रघु ने इन्द्र के धनुष की प्रत्यञ्चा काट डाली। इससे कुपित हो इन्द्र ने रघु के ऊपर अपना भीषण वज्र प्रहार किया। वज्र लगते ही रघु जमीन पर गिर पड़े सेना में शोक छा गया। परन्तु वे तुरत उठ बैठे। ज्योंही उन्होंने इन्द्र को मारने के लिए धनुष पर बाण चढ़ाया त्योंही इन्द्र ने रोक कर कहा—

इन्द्र-रघु युद्धवृत्तान्त
१६२१, १९३७

'हे राजकुमार ! धन्य हो। मेरे अमोघ वज्र से भी [illegible] हुए। अतः मैं तुम्हारी वीरता पर प्रसन्न हूं। इ[illegible]

और जो चाहो वह वरदान मुझ से माँग लो।' रघु ने कहा—'यदि आपका यही विचार है तो आप दो बातें करें। एक तो यह कि बिना घोड़ा पाए ही मेरे पिता को सौ अश्वमेध यज्ञ का पूर्ण फल मिले। दूसरी बात यह कि मेरे पहुँचने के पूर्व ही यज्ञशाला में बैठे हुए मेरे पिता इस वृत्तान्त को आपके दूत द्वारा सुनें।' इन्द्र ने 'बहुत अच्छा' कहकर इन्द्रलोक की राह पकड़ी। घोड़ा न पाने के कारण खिन्न मन से रघु अयोध्या पहुँचे। इधर इन्द्र के सारथी मातलि ने आकर सब वृत्तान्त सुना दिया। पिता ने पुत्र के आने पर प्रेम से आलिङ्गन कर मस्तक सूँघा। यज्ञ समाप्त हो जाने के बाद, कुछ दिन बीत जाने पर, रघु को राज्यसिंहासन देकर, रानी सुदक्षिणा के साथ महाराज दिलीप वन में चले गए।

चतुर्थ सर्ग

रघु की दिग्विजय यात्रा—१९३०, ३६

शरद् ऋतु ने रघु को दिग्विजय के लिए प्रोत्साहन दिया। पहिले वे एक बड़ी सेना लेकर पूर्व दिशा की ओर गये। उस तरफ सुह्मदेश और बङ्ग देश को उन्होंने अधीन किया। तब गङ्गाजी के द्वीपसमूहों में विजयस्मारक स्तम्भ स्थापित किये। तदनन्तर कपिशा नदी में हाथियों को खड़ा कर उनके ऊपर से सारी सेना कलिङ्गदेश में गयी। वहाँ के राजाओं को जीतकर रघु ने उनसे 'कर' लिया। पुनः समुद्र के किनारे-किनारे चलकर दक्षिण की ओर गये। मार्ग में कावेरी नदी को पार कर मलय पर्वत की तराई में सेना ने पड़ाव डाल दिया। पाण्ड्य देश के राजा ने उत्तम-उत्तम मोती आदि रत्न उपहार में अर्पण किये। तब मलय और दर्दुर पर्वतों को लाँघते हुए वे पश्चिम दिशा की ओर गये। राह में भयभीत केरल देशीय राजाओं से भेंट लेते त्रिकूट पर्वत पर पहुँचे। अनन्तर फारसदेश पर आक्रमण कर भीषण युद्ध के बाद यवनों

को पराजित किया। पुनः उत्तर दिशा की ओर गये। वहाँ हूणों और काम्बोजों को पराजित कर उनसे अच्छे २ घोड़े लिये। फिर हिमालय पर्वत के उत्सवसङ्केत नामक सात पहाड़ी कबीलों के साथ घनघोर संग्राम हुआ। उन्हें पराधीनता की शृंखला में बाँधकर उनसे अपार धनराशि ली। उन्होंने कैलाश पर जाने का संकल्प त्याग दिया क्योंकि वह एक बार रावण द्वारा पराजित हो चुका था। तब पहाड़ परसे उतर कर, ब्रह्मपुत्र नदी को पार करते प्राग्ज्योतिष नगरी में गये। वहां के राजा को पराजित कर श्रेष्ठ गजराजों को उपहार में लिया। इस प्रकार चारों दिशाओं को जीतकर रघु अयोध्या लौटे। वहाँ उन्होंने विश्वजित यज्ञ किया और सम्पूर्ण विजयद्रव्य ब्राह्मणों को दे डाला।

रघुवंश-महाकाव्यम्

सञ्जीवनी-हिन्दीटीकाभ्यां संवलितम्

द्वितीयः सर्गः ।

आशासु राशीभवदङ्गवल्लीभासैव दासीकृतदुग्धसिन्धुम् ।
मन्दस्मितैर्निन्दितशारदेन्दुं वन्देऽरविन्दासनसुन्दरि ! त्वाम् ॥

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥१॥

दण्डान्वयः—अथ यशोधनः प्रजानाम् अधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्यां पीतप्रतिबद्धवत्साम् ऋषेः धेनुं वनाय मुमोच ।

अथ = निशानयनानन्तरं यशोधनः प्रजानामधिपः = प्रजेश्वरः प्रभाते = प्रातःकाले जायया सुदक्षिणया । प्रतिग्राहयित्र्या प्रतिग्राहिते स्वीकारिते गन्धमाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या तां तथोक्ताम् । पीतं पानमस्यास्तीति पीतः । पीतवानित्यर्थः । "अर्शआदिभ्योऽच्" इत्यच्प्रत्ययः । 'पीता गावो भुक्ता ब्राह्मणाः' इति महाभाष्ये दर्शनात् । पीतः प्रतिबद्धो वत्सो यस्यास्तामृषेर्धेनुं वनाय = वनं गन्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इत्यनेन चतुर्थी । मुमोच = मुक्तवान् । जायापदसामर्थ्यात्सुदक्षिणायाः पुत्रजननयोग्यत्वमनुसन्धेयम् । तथाहि श्रुतिः—'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते । तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥' इति । यशोधन इत्यनेन पुत्रवत्ताकीर्तिलोभाद्राजाऽनर्हे गोरक्षणे प्रवृत्त इति गम्यते । अस्मिन्सर्गे वृत्तमुपजातिः 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति ॥ १ ॥

टीका—रात के बीत जाने पर यश के धनी, प्रजापालक (दिलीप) ने प्रातःकाल रानी से दी हुई गन्ध-माला को धारण करने वाली, दूध पीकर बँधे हुए बछड़े वाली ऋषि (वशिष्ठ) की गाय को जंगल (में चराने) के लिए खोल दिया ॥ १ ॥

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥२॥

दण्डान्वयः—अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुं मार्गं—स्मृतिः श्रुतेः अर्थम् इव—अन्वगच्छत् ।

पांसवो दोषा आसां सन्तीति पांसुलाः स्वैरिण्यः । 'स्वैरिणी पांसुला' इत्यमरः । "सिध्मादिभ्यश्च इति लच्प्रत्ययः । अपांसुलानां = पतिव्रतानां धुरि = अग्रे कीर्तनीया = परिगणनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी । खुरन्यासैः पवित्राः पांसवो यस्य तम् । 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः । तस्याः = धेनोर्मार्गम् । स्मृतिः = मन्वादिवाक्यं श्रुतेः = वेदवाक्यस्यार्थम् = अभिधेयमिव । अन्वगच्छद् = अनुसृतवती च । यथा स्मृतिः श्रुतिक्षुण्णमेवार्थमनुसरति तथा साऽपि गोखुरक्षुण्णमेव मार्गमनुससारेत्यर्थः । धर्मपत्नीत्यत्राश्ववासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः प्रकृतिविकाराभावात् । पांसुलपथप्रवृत्तावप्यपांसुलानामिति विरोधालङ्कारो ध्वन्यते ॥ २ ॥

टीका—पतिव्रताओं में अग्रगण्या, राजा दिलीप की पत्नी ने उस (गाय) के खुरों के रखने पवित्र धूलि वाले मार्ग का—वेद के अर्थ के अनुसार स्मृति की भाँति—अनुसरण किया ॥ २ ॥

१९ १२ निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥३॥

दण्डान्वयः—दयालुः यशोभिः सुरभिः राजा तां दयितां निवर्त्य पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम् सौरभेयीं—(पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां) गोरूपधराम् उर्वीम् इव—जुगोप ।

दयालुः = कारुणिकः । 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । "स्पृहि-गृहि०" इत्यादिनाऽऽलुच्प्रत्ययः । यशोभिः सुरभिः = मनोज्ञः । 'सुरभिः स्यान्मनोज्ञेऽपि' इति विश्वः । राजा तां दयितां निवर्त्य सौरभेयीं = कामधेनुसुतां नन्दिनीम् । धरन्तीति धराः । पचाद्यच् । पयसां धराः पयोधराः स्तनाः । 'स्त्रीस्तनाब्दौ पयोधरौ' इत्यमरः । अपयोधरा पयोधराः सम्पद्यमानाः पयोधरीभूताः । अभूततद्भावे च्विः । "कुगतिप्रादयः" इति समासः । पयोधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्यास्ताम् । "अनेकमन्यपदार्थे" इत्यनेकपदार्थग्रहणसामर्थ्यात्त्रिपदो बहुव्रीहिः । गोरूपधरामुर्वीमिव जुगोप = ररक्ष । भूरक्षणप्रयत्नेनेव ररक्षेति भावः । धेनुपक्षे पयसा दुग्धेनाधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्याः सा तथोक्ताम् । दुग्धतिरस्कृतसागरामित्यर्थः ॥ ३ ॥

टीका--दयालु और कीर्तियों से सुशोभित राजा उस प्राणवल्लभा रानी को लौटाकर अपने दूध से चारो समुद्रों को तिरस्कृत करनेवाली सुरभि की कन्या को-(चार समुद्रको चार थनों के रूपमें धारण करनेवाली) गायरूपी पृथ्वी के समान-रक्षा करने लगे ॥३॥

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥४॥

दण्डान्वयः—व्रताय धेनोः अनुचरेण तेन शेषः अपि अनुयायिवर्गः न्यषेधि । तस्य शरीररक्षा च अन्यतः न । हि मनोः प्रसूतिः स्ववीर्यगुप्ता ।

व्रताय धेनोरनुचरेण । न तु जीवनायेति भावः । तेन = दिलीपेन शेषः = अवशिष्टोऽप्यनुयायिवर्गः = अनुचरवर्गो न्यषेधि = निवर्तितः, शेषत्वं सुदक्षिणापेक्षया । कथं तर्ह्यात्मरक्षणमत आह—न चेति । तस्य = दिलीपस्य शरीररक्षा चान्यतः = पुरुषान्तरात्, न । कुतः । हि = यस्मात्-कारणान्मनोः । प्रसूयत इति प्रसूतिः = सन्ततिः स्ववीर्यगुप्ता = स्ववीर्येणैव रक्षिता । न हि स्वनिर्वाहकस्य परापेक्षेति भावः ॥ ४ ॥

टीका--व्रत के निमित्त उस गाय के पीछे चलने वाले (राजा)

ने बचे हुए नौकरों को भी लौटा दिया। उसके शरीर की रक्षा के लिए दूसरे की जरूरत न थी। क्योंकि मनु की सन्तान अपने पराक्रम से रक्षित है ॥ ४ ॥

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥५॥

दण्डान्वयः—सः सम्राट् आस्वादवद्भिः तृणानां कवलैः, कण्डूयनैः, दंशनिवारणैः, च अव्याहतैः स्वैरगतैः तस्याः समाराधनतत्परः अभूत् ।

सम्राट् = मण्डलेश्वरः । 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरः । सः = राजा । आस्वादवद्भिः = रसवद्भिः । स्वादयुक्तैरित्यर्थः । तृणानां कवलैः = ग्रासैः । 'ग्रासस्तु कवलः पुमान्' इत्यमरः । कण्डूयनैः = खर्जनैः । दंशानां वनमक्षिकाणां निवारणैः । 'दंशस्तु वनमक्षिका' इत्यमरः । अव्याहतैः = अप्रतिहतैः स्वैरगतैः = स्वच्छन्दगमनैश्च । तस्याः = धेन्वाः समाराधनतत्परः = शुश्रूषासक्तोऽभूत् । तदेव परं प्रधानं यस्येति तत्परः । 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः ॥ ५ ॥

टीका--वह चक्रवर्ती राजा स्वादयुक्त कोमल घास के कौर से, खुजलाने से, मक्खी-मच्छर उड़ाने से, और बिना रुकावट के स्वच्छन्द फिरने देने से उसकी सुश्रूषा में तत्पर हुआ ॥ ५ ॥

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥६॥

दण्डान्वयः—भूपतिः तां स्थितां [सतीं] स्थितः [सन्], प्रयातां [सतीं] उच्चलितः [सन्], निषेदुषीं [सतीं] आसनबन्धधीरः [सन्], जलम् आददानां [सतीं], जलाभिलाषी [सन्]—छाया इव—अन्वगच्छत् ।

भूपतिस्तां = गां स्थितां सतीं स्थितः सन् । स्थितिरूर्ध्वावस्थानम् । प्रयातां = प्रस्थितामुच्चलितः = प्रस्थितः । निषेदुषीं = निषण्णाम् । उपविष्टामित्यर्थः "भाषायां सदवसश्रुवः" इति क्वसुप्रत्ययः । "उगितश्च" इति

ङीप्। आसनबन्ध उपवेशने धीरः स्थितः। उपविष्टः सन्नित्यर्थः। जलमाददानां = जलं पिबन्तीं जलाभिलाषी। जलं पिबन्निति्यर्थः। इत्थं छायेवान्वगच्छद् = अनुसृतवान् ॥ ६ ॥

टीका—राजा ने उस ठइरती हुई की ठहरते हुए, चलती हुई की चलते हुए, बैठती हुई की बैठते हुए, जल पीती हुई की जल पीते हुए—परछाईं की तरह-अनुसरण किया ॥ ६ ॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥७॥

दण्डान्वयः—न्यस्तचिह्नाम् अपि तेजोविशेषानुमितां राजलक्ष्मीं दधानः सः—अनाविष्कृतदानराजिः अन्तर्मदावस्थः द्विपेन्द्रः इव—आसीत्।

न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामरादीनि यस्यास्तां तथाभूतामपि तेजोविशेषेण प्रभावातिशयेनानुमिताम्। सर्वथा राजैवायं भवेदित्यूहितां राजलक्ष्मीं दधानः सः = राजा। अनाविष्कृतदानराजिः = बहिरप्रकटितमदरेखः। अन्तर्गता मदावस्था यस्य सोऽन्तर्मदावस्थः। तथाभूतो द्विपेन्द्र इव। आसीत् ॥ ७ ॥

टीका-(छत्र चामरादि) चिह्नों को छोड़ी हुई किन्तु तेज की अधिकता से अनुमान की जानेवाली राजलक्ष्मी को धारण करते हुए वह—प्रगट रूप से न दिखाई पड़नेवाली मदरेखावाले, भीतर मौजूद रहनेवाले मदवाले हाथी की तरह—(मालूम पड़ते) थे ॥ ७ ॥

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ॥८॥

दण्डान्वयः—लताप्रतानोद्ग्रथितैः केशैः (उपलक्षितः) अधिज्यधन्वा सः मुनिहोमधेनोः रक्षापदेशात् वन्यान् दुष्टसत्त्वान् विनेष्यन् इव दावं विचचार।

लतानां वल्लीनां प्रतानैः कुटिलतन्तुभिरुद्ग्रथिता उन्नमय्य ग्रथिता ये केशास्तैरुपलक्षितः। "इत्थम्भूतलक्षणे" इति तृतीया। सः = राजा। अधिज्यमारोपितमौर्वीकं धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा सन्। 'धनुषश्च' इत्यङा-

देशः । मुनिहोमधेनो रक्षापदेशाद्=रक्षणव्याजात् । वन्यान्=वने भवान्-दुष्टसत्वान्=दुष्टजन्तून् । 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः । विनेष्यन्=शिक्षयिष्यन्निव । दावं=वनम् । 'वने च वनवह्नौ च दवो दाव ह्वेष्यते' इति यादवः । विचचार=वने चचारेत्यर्थः । 'देश-कालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति दावस्य कर्मत्वम् ॥ ८ ॥

टीका—लताओं के तन्तुओं से गूँथे हुए केश वाला, प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुष को धारण करने वाला वह राजा मुनि की यज्ञधेनु की रखवाली करने के बहाने बनैले दुष्ट जीवों को मानों शिक्षा देता हुआ वन में विचरने लगा ॥ ८ ॥

'विसृष्ट-'इत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैस्तस्य महामहिमतया द्रुमादयोऽपि राजोपचारं चक्रुरित्याह—

१६२३ विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥ ९ ॥

दण्डान्वयः—विसृष्टपार्श्वानुचरस्य पाशभृता समस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः उन्मदानां वयसां विरावैः आलोकशब्दम् उदीरयामासुः इव ।

विसृष्टाः पार्श्वानुचराः पार्श्ववर्तिनो जना येन तस्य । पाशभृता=वरुणेन समस्य=तुल्यस्य । 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः । अनुभावोऽनेन सूचितः । तस्य=राज्ञः पार्श्वयोर्द्रुमाः । उन्मदानाम्=उत्कटमदानां वयसां=खगानाम् । 'खगवाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः । विरावैः=शब्दैः । 'आलोकस्य शब्दं वाचकमालोकयेति शब्दम् । जयशब्दमित्यर्थः । 'आलोको जयशब्दः स्यात्' इति विश्वः । उदीरयामासुरिव=अवदन्निव । इत्युत्प्रेक्षा ॥

टीका—पार्श्ववर्ती चोबदारों के छोड़ देनेवाले, वरुण की उपमा वाले उस (राजा) का, आस पास के वृक्षों ने उन्मत्त पक्षियों के कलरव (चहचहाहटों) से, मानों जयकार कराया ॥ ९ ॥

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम् ।
अवाकिरन्वाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥ १० ॥

दण्डान्वयः—च मरुत्प्रयुक्ताः बाललताः आरात् अभिवर्तमानं मरुत्सखाभम् अर्च्यं तं प्रसूनैः-पौरकन्याः आचारलाजैः इव-अवाकिरन्।

मरुत्प्रयुक्ताः = वायुना प्रेरिता बाललता आरात् = समीपेऽभिवर्तमानम्। 'आरादूदूरसमीपयोः' इत्यमरः। मरुतो वायोः सखा मरुत्सखोऽग्निः। स इवाऽऽभातीति तं मरुत्सखाभम्। "आतश्चोपसर्गे" इति कप्रत्ययः। अर्च्यं = पूज्यं तं = दिलीपं प्रसूनैः = पुष्पैः। पौरकन्याः = पौराश्च ताः कन्या आचारार्थैर्लाजैराचारलाजैरिव। अवाकिरन्। तस्योपरि निक्षिप्तवत्य इत्यर्थः। सखा हि सखायमागतमुपचरतीति भावः॥ १०॥

टीका-और वायु से प्रेरित नयी लताओं ने समीप में स्थित अग्नि (वायु के मित्र) तुल्य उस आदरणीय राजा के ऊपर फूलों की-जैसे नागरिक बालिकाएँ मङ्गलार्थक धान के लावों से करती हैं-वर्षा की॥ १०॥

१६१३ धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः।
विलोकयन्त्या वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः॥

दण्डान्वयः—धनुर्भृतः अपि अस्य विशङ्कैः अन्तःकरणैः दयार्द्रभावम् [इति] आख्यातं वपुः विलोकयन्त्यः हरिण्यः अक्ष्णां प्रकामविस्तारफलम् आपुः।

धनुर्भृतोऽप्यस्य=राज्ञः। एतेन भयसम्भावना दर्शिता। तथापि विशङ्कैः=निर्भीकैरन्तःकरणैः। कर्तृभिः। दयया कृपारसेनाऽऽर्द्रो भावोऽभिप्रायो यस्य तद्दयार्द्रभावं तदाख्यातम्। दयार्द्रभावमेतदित्याख्यातमित्यर्थः। 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु' इत्यमरः। तथाविधं वपुर्विलोकयन्त्यो हरिण्योऽक्ष्णां प्रकामविस्तारस्याऽत्यन्तविशालतायाः फलमापुः। 'विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं च' इति न्यायेन स्वान्तःकरणवृत्तिप्रामाण्यादेव विश्रब्धं ददृशुरित्यर्थः॥ ११॥

टीका—धनुषधारी होने पर भी उसके, निर्भीक अन्तःकरण से दया भाव बतलानेवाले शरीर को देखनेवाली हरिणियोंने (अपनी) आँखों के विशाल होने का फल पाया॥ ११॥

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥१२॥

दण्डान्वयः—सः मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिः कीचकैः आपादितवंशकृत्यं वनदेवताभिः कुञ्जेषु उच्चैः उद्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव ।

सः = दिलीपो मारुतपूर्णरन्ध्रैः । अत एव कूजद्भिः = स्वनद्भिः । कीचकैः = वेणुविशेषैः । 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः । वंशः सुषिरवाद्यविशेषः । 'वंशादिकं तु सुषिरम्' इत्यमरः । आपादितं सम्पादितं वंशस्य कृत्यं कार्यं यस्मिन्कर्मणि तत्तथा । कुञ्जेषु = लतागृहेषु । 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः । वनदेवताभिरुद्गीयमानम् = उच्चैर्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव=श्रुतवान् ॥१२॥

टीका—उसने छेदों में भरी हुई हवा से गूँजनेवाले रामबाँसों से बाँसुरी का काम देते हुए वनदेवियों से कुञ्जों में ऊँचे स्वर से गाये जाते हुए, अपने यश को सुना ॥ १२ ॥

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥ १३ ॥

दण्डान्वयः—गिरिनिर्झराणां तुषारैः पृक्तः अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी पवनः अनातपत्रम् आतपक्लान्तम् आचारपूतं तं सिषेवे ।

गिरिषु निर्झराणां = वारिप्रवाहाणाम् । 'वारिप्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । तुषारैः = सीकरैः । 'तुषारौ हिमसीकरौ' इति शाश्वतः । पृक्तः = सम्पृक्तोऽनोकहानां वृक्षाणामाकम्पितानीषत्कम्पितानि पुष्पाणि तेषां यो गन्धः सोऽस्यास्तीत्याकम्पितपुष्पगन्धी । ईषत्कम्पितपुष्पगन्धवान् । एवं शीतो मन्दः सुरभिः पवनः = वायुरनातपत्रं=व्रतार्थं परिहृतच्छत्रम् । अत एवाऽऽतपक्लान्तमाचारेण पूतं शुद्धं तं=नृपं सिषेवे । आचारपूतत्वात्स राजा जगत्पावनस्यापि सेव्य आसीदिति भावः ॥ १३ ॥

टीका—पहाड़ी झरनों के महीन जलकणों से मिली हुई, वृक्षों के कुछ कुछ हिलते हुए फूलों से सुगन्धित हवा ने छत्ररहित, धूप से

मुरझाए हुए उस शुद्ध आचारवाले राजा की सेवा की ॥१३॥

शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने ॥१४॥

दण्डान्वयः—गोप्तरि तस्मिन् वनं गाहमाने [सति] दवाग्निः वृष्ट्या विना अपि शशाम । फलपुष्पवृद्धिः विशेषा आसीत् । सत्त्वेषु अधिकः ऊनं न बबाधे ।

गोप्तरि तस्मिन्=राज्ञि वनं गाहमाने=प्रविशति सति वृष्ट्या विनापि । दवाग्निः=वनाग्निः । 'दवदावौ वनानले' इति हैमः । शशाम । फलानां पुष्पाणां च वृद्धिः । विशेष्यत इति विशेषा=अतिशयिताऽऽसीत् । कर्मार्थे घञ्प्रत्ययः । सत्त्वेषु=जन्तुषु मध्ये । "यतश्च निर्धारणम्" इति सप्तमी । अधिकः=प्रबलो व्याघ्रादिरूनं=दुर्बलं हरिणादिकं न बबाधे ॥ १४ ॥

टीका—उस रक्षक के वन में प्रवेश करने पर दावानल वर्षा के बिना ही शान्त हो गया । फल-फूलों की वृद्धि विशेष हुई । पशुओं में सबल निर्बल को न सताने लगा ॥ १४ ॥

१६२२ सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥१५॥

दण्डान्वयः—पल्लवरागताम्रा पतङ्गस्य प्रभा च मुनेः धेनुः दिगन्तराणि सञ्चारपूतानि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुं प्रचक्रमे ।

पल्लवस्य रागो वर्णः पल्लवरागः । 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु' इति शाश्वतः । स इव ताम्रा पल्लवरागताम्रा पतङ्गस्य=सूर्यस्य प्रभा=कान्तिः । 'पतङ्गः पक्षि-सूर्ययोः इति शाश्वतः । मुनेर्धेनुश्च । दिगन्तराणि=दिशामवकाशान् । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः । सञ्चारेण पूतानि शुद्धानि कृत्वा दिनान्ते=सायङ्काले निलयाय=अस्तमयाय । धेनुपक्ष आलयाय च । गन्तुं प्रचक्रमे ॥ १५ ॥

टीका—कोमल पल्लव की तरह लाल रंगवाली सूर्य की प्रभा

और वशिष्ठ की गाय, दिशाओं को अपने परिभ्रमण से पवित्र कर सायंकाल में निलय (सूर्यपक्ष में-'अस्त', धेनुपक्ष में-'आश्रम') के लिए लौटीं ॥ १५ ॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥१६॥

दण्डान्वयः-मध्यमलोकपालः देवतापित्रतिथिक्रियार्थां ताम् अन्वक् ययौ । च सतां मतेन तेन उपपन्ना सा-(सतां मतेन) विधिना साक्षात् श्रद्धा इव-बभौ ।

मध्यमलोकपालः = भूपालः । देवतापित्रतिथिनां क्रिया यागश्राद्धदानानि ता एवार्थः प्रयोजनं यस्यास्तां तां = धेनुमन्वग् = अनुपदं ययौ । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीवमध्यम्' इत्यमरः । सतां मतेन = सद्भिर्मान्येन । "गतिबुद्धि०" इत्यादिना वर्तमाने क्तः । "क्तस्य च वर्तमाने" इति षष्ठी । तेन = राज्ञा, उपपन्ना = युक्ता सा = धेनुः । सतां मतेन विधिना = अनुष्ठानेनोपपन्ना = युक्ता साक्षात् = प्रत्यक्षा श्रद्धा = आस्तिक्यबुद्धिरिव । बभौ च ॥ १६ ॥

टीका—भूलोक के पालन करनेपाले दिलीप, देवता, पितर और अतिथियों के कार्य (यज्ञ-श्राद्ध-दान) को साधने वाली उस गाय के पीछे-पीछे चले । और सज्जनों द्वारा मान्य उन (दिलीप) से युक्त वह (धेनु)-(सज्जनों से किए गए) अनुष्ठान से युक्त मूर्तिमान् श्रद्धा की भाँति-सुशोभित हुई ॥ १६ ॥

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥१७॥

दण्डान्वयः— सः पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ययौ ।

सः = राजा । पल्वलेभ्योऽल्पजलाशयेभ्य उत्तीर्णानि निर्गतानि वराहाणां यूथानि कुलानि येषु तानि । बर्हाण्येषां सन्तीति बर्हिणा मयूराः । 'मयूरो बर्हिणो बर्ही' इत्यमरः । 'फलबर्हाभ्यामिनच्प्रत्ययो' वक्तव्यः ।

आवासवृक्षाणामुन्मुखा बर्हिणा येषु तानि श्यामायमानानि वराहबर्हिणादिमलिनिम्ना अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायमानानि। "लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्" इति क्यष्प्रत्ययः। "वा क्यषः" इत्यात्मनेपदे शानच्। मृगैरध्यासिता अधिष्ठिताः शाद्वला येषु तानि। शादाः शष्पाण्येषु देशेषु सन्तीति शाद्वलाः शष्पश्यामदेशाः। 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः। 'शादः कर्दमशष्पयोः' इति विश्वः। "नडशादाद्ड्वलच्" इति ड्वलच्प्रत्ययः॥ वनानि पश्यन् ययौ॥ १७॥

टीका—वह छोटे-छोटे तालाबों से निकलते हुए सुअरों के झुण्डवाले, अपने-अपने निवासवृक्षों की ओर आते हुए मोरोंवाले, और हरी-हरी दूब पर बैठे हुए हरिण वाले श्याम वनों को देखता हुआ चला॥ १७॥

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नादृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः।
उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्॥ १८॥

दण्डान्वयः—दृष्टिः आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात्, नरेन्द्रः वपुषः गुरुत्वात्, उभौ तपोवनावृत्तिपथं अञ्चिताभ्यां गताभ्याम् अलञ्चक्रतुः।

दृष्टिः=सकृत्प्रसूता गौः। 'दृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः' इति हलायुधः। नरेन्द्रश्च। उभौ=यथाक्रमम्। आपीनमूधः। 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः। आपीनस्य भारोद्वहने प्रयत्नात्प्रयासात्। वपुषो गुरुत्वाद्=आधिक्याच्च। अञ्चिताभ्यां=चारुभ्यां गताभ्यां=गमनाभ्यां तपोवनादावृत्तेः पन्थास्तं तपोवनावृत्तिपथम्। "ऋक्पुरब्धूःपथामानक्षे" इत्यनेन समासान्तोऽप्रत्ययः। अलञ्चक्रतुः=भूषितवन्तौ॥ १८॥

टीका—पहिली बार की ब्याई हुई नन्दिनी ने थन का भार सम्हालने से, राजा ने शरीर की स्थूलता से, दोनों ने—तपोवनागमन मार्ग को अपनी-अपनी सुन्दर चाल से सुशोभित किया॥१८॥

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात्।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपंक्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्॥१९॥

दण्डान्वयः—वशिष्ठधेनोः अनुयायिनं वनान्तात् आवर्तमानं तं वनिता निमेषालसपक्ष्मपंक्तिः (सती)-उपोषिताभ्याम् इव लोचनाभ्यां-पपौ ।

वसिष्ठधेनोरनुयायिनम् = अनुचरं वनान्तादावर्तमानं=प्रत्यागतं तं = दिलीपं वनिता = सुदक्षिणा निमेषेष्वलसा मन्दा पक्ष्मणां पंक्तिर्यस्याः सा । निर्निमेषा सतीत्यर्थः । लोचनाभ्यां करणाभ्याम् । उपोषिताभ्यामिव । उपवासो भोजननिवृत्तिः तद्वद्व्यामिव । वसतेः कर्तरि क्तः । पपौ । यथोपोषितोऽतितृष्णया जलमधिकं पिबति, तद्वदतितृष्णयाऽधिकं व्यलोकयदित्यर्थः ॥ १९ ॥

टीका—वशिष्ठ की गाय के पीछे-पीछे चलनेवाले, वन से लौटे हुए उस (दिलीप) को रानी ने मूँदनेमें अलसाती पलकवाली होकर (अर्थात् निर्निमेष)—उपवासी (तृषित) नेत्रों की भाँति-पिया ॥१९॥

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥२०॥

दण्डान्वयः—वर्त्मनि पार्थिवेन पुरस्कृता पार्थिवधर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुः तदन्तरे–दिनक्षपामध्यगता सन्ध्या इव–विरराज ।

वर्त्मनि पार्थिवेन = पृथिव्या ईश्वरेण । "तस्येश्वरः" इत्यच्प्रत्ययः । पुरस्कृता = अग्रतः कृता । धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी । धर्मार्थपत्नीत्यर्थः । अश्ववाडादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः । पार्थिवस्य धर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुस्तदन्तरे = तयोर्दम्पत्योर्मध्ये । दिनक्षपयोर्दिनरात्र्योर्मध्यगता सन्ध्येव विरराज ॥ २० ॥

टीका—राह में राजा से आगे की गयी और पटरानी से आगे जाकर ली हुई (अगवानी की गई) वह गाय उन दोनों के बीच में—दिन और रात्रि के मध्य में स्थित सन्ध्या की भाँति-सुशोभित हुई ॥ २० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥२१॥

दण्डान्वयः—साक्षतपात्रहस्ता सुदक्षिणा पयस्विनीं तां प्रदक्षिणीकृत्य च प्रणम्य अस्याः विशालं शृङ्गान्तरम्-अर्थसिद्धेः द्वारम् इव-आनर्च ।

अक्षतानां पात्रेण सह वर्तते इति साक्षतपात्रौ हस्तौ यस्याः सा सुदक्षिणा पयस्विनीं = प्रशस्तक्षीरां तां = धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च । अस्याः=धेन्वाः विशालं शृङ्गान्तरं = शृङ्गमध्यम् । अर्थसिद्धेः = कार्यसिद्धेः द्वारं=प्रवेशमार्गमिव । आनर्च=अर्चयामास । अर्चतेर्भौवादिकाल्लिट् ॥२१॥

टीका—अक्षत युक्त पात्र को हाथ में लिए सुदक्षिणा ने उत्तम दूधवाली उस गाय की प्रदक्षिणा और वन्दना करके उसके चौड़े दोनों सींगों के मध्यभाग की—मनोरथ-सिद्धि के द्वार की भाँति (जानकर)—पूजा की ॥ २१ ॥

वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ २२ ॥

दण्डान्वयः—सा वत्सोत्सुका अपि स्तिमिता (सती) सपर्या प्रत्यग्रहीत् इति तौ ननन्दतुः । हि तद्विधानां भक्त्या उपपन्नेषु प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ।

सा = धेनुर्वत्सोत्सुकाऽपि = वत्स उत्कण्ठिताऽपि स्तिमिता = निश्चला सती सपर्यां = पूजां प्रत्यग्रहीदिति हेतोस्तौ = दम्पती ननन्दतुः । पूजास्वीकारस्यानन्दहेतुत्वमाह—भक्त्येति । पूज्येष्वनुरागो भक्तिः तयोपपन्नेषु = युक्तेषु विषये तद्विधानाम् । तस्या धेन्वा विधेव विधा प्रकारो येषां तेषाम् । महतामित्यर्थः । प्रसादस्य चिह्नानि लिङ्गानि पूजास्वीकारादीनि पुरःफलानि । पुरोगतानि प्रत्यासन्नानि फलानि येषां तानि हि । अविलम्बितफलसूचकलिङ्गदर्शनादानन्दो युज्यत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

टीका—उसने बछड़े को देखने के लिए उत्कण्ठित होने पर भी निश्चल होकर पूजा स्वीकार की, इससे वे दोनों (राजा-रानी) प्रसन्न हुए। क्योंकि अपने में प्रेम रखने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में उस (नन्दिनी) के समान बड़े लोगों की प्रसन्नता के चिह्न निःसन्देह तत्काल फल के हेतु होते हैं ॥ २२ ॥

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यं च विधिं दिलीपः
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं सेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥२३॥

दण्डान्वयः—भुजोच्छिन्नरिपुः दिलीपः सदारस्य गुरोः पादौ निपीड्य च सान्ध्यं विधिं समाप्य दोहावसाने निषण्णां दोग्ध्रीं एव पुनः भेजे ।

भुजोच्छिन्नरिपुर्दिलीपः सदारस्य=दारैररुन्धत्या सह वर्तमानस्य गुरोः । उभयोरपीत्यर्थः । 'भार्या जायाथ पुंभूम्नि दाराः' इत्यमरः । पादौ निपीड्य=अभिवन्द्य । सान्ध्यं=सन्ध्यायां विहितं विधिम्=अनुष्ठानं च समाप्य । दोहावसाने निषण्णाम्=आसीनां दोग्ध्रीं=दोहनशीलाम् । "तृन्" इति तृन्प्रत्ययः । धेनुमेव पुनर्भेजे=सेवितवान् । दोग्ध्रीमिति निरुपपदप्रयोगात्कामधेनुत्वं गम्यते ॥ २३ ॥

टीका—भुजाओंसे वैरियोंको नष्ट करनेवाले दिलीप, पत्नी (अरुन्धती) के सहित गुरु (वसिष्ठ) के पाँव दाबकर सायङ्कालीन कृत्यको समाप्त करके, दुहनेके बाद बैठी हुई गौकी फिरसे सेवा करने लगे ॥२३॥

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥२४॥

दण्डान्वयः—गोप्ता गृहिणीसहायः अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां ताम् अन्वास्य क्रमेण सुप्ताम् अनु संविवेश । (क्रमेण) प्रातः सुप्तोत्थिताम् अनु उदतिष्ठत् ।

गोप्ता=रक्षको गृहिणीसहायः=पत्नीद्वितीयः सन् । उभावपीत्यर्थः । अन्तिके न्यस्ता बलयः प्रदीपाश्च यस्यास्तां तथोक्तां तां=पूर्वोक्तां निषण्णां धेनुमन्वास्य=अनूपविश्य क्रमेण सुप्तामनु=अनन्तरं संविवेश=सुष्वाप । प्रातः सुप्तोत्थितामनूदतिष्ठत्=उत्थितवान् । अत्रानुशब्देन धेनुराजव्यापारयोः पौर्वापर्यमुच्यते । क्रमशब्देन धेनुव्यापाराणामेवेत्यपौनरुक्त्यम् । "कर्मप्रवचनीययुक्ते" इति द्वितीया ॥ २४ ॥

टीका—रक्षक पत्नी सहित समीप स्थापित पूजोपहार दीपकवाली उस (गाय) के निकट बैठकर क्रमसे उसके सोनेके बाद सोये । (क्रमसे) सुबह उसके सोकर उठनेके बाद उठे ॥ २४ ॥

१९१९ इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य

दण्डान्वयः—इत्थं प्रजार्थं महिष्या समं व्रतं धारयतः महनीयकीर्तेः दीनोद्धरणोचितस्य तस्य त्रिगुणानि सप्त दिनानि व्यतीयुः।

इत्थम् = अनेन प्रकारेण प्रजार्थं = सन्तानाय महिष्या समम्=अभिषिक्तपत्न्या सह। 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः। व्रतं धारयतः। महनीया पूज्या कीर्तिर्यस्य तस्य। दीनानामुद्धरणं दैन्यविमोचनम्। तत्रोचितस्य परिचितस्य तस्य = नृपस्य। त्रयो गुणा आवृत्तयो येषां तानि त्रिगुणानि = त्रिरावृत्तानि सप्तदिनानि = एकविंशतिर्दिनानि व्यतीयुः॥२५॥

टीका—इस तरह सन्तानके लिए पटरानीके साथ व्रतको धारण करनेवाले, प्रशंसनीय कीर्तिवाले, दीनोंके उद्धार करनेमें दत्तचित्त उस राजाके तिगुने सात (७×३=२१) दिन बीत गये॥ २५॥

१९२० १९२४ अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश॥२६॥

दण्डान्वयः—अन्येद्युः मुनिहोमधेनुः आत्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना (सती) गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोः गह्वरम् आविवेश।

अन्येद्युः = अन्यस्मिन्दिने द्वाविंशे दिने। "सद्यः परुत्परारि०" इत्यादिना निपातनादव्ययत्वम्। 'अद्यात्राह्नयथ पूर्वेऽह्नीत्यादौ पूर्वोत्तरापरात्। तथाधरान्यान्यतरेतरात्पूर्वेद्युरादयः' ॥ इत्यमरः। मुनिहोमधेनुः। आत्मानुचरस्य भावम् = अभिप्रायं दृढभक्तित्वम्। 'भावोऽभिप्राय आशयः' इति यादवः। जिज्ञासमाना = ज्ञातुमिच्छन्ती "ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः" इत्यात्मनेपदे शानच्। प्रपतत्यस्मिन्निति प्रपातः पतनप्रदेशः, गङ्गायाः प्रपातस्तस्यान्ते समीपे विरूढानि जातानि शष्पाणि बालतृणानि यस्मिंस्तत्। 'शष्पं बालतृणं घासः' इत्यमरः। गौरीगुरोः = पार्वतीपितुर्गह्वरं = गुहामाविवेश॥ २६॥

टीका—बाइसवें दिन ऋषिकी होमधेनु अपने सेवकके अभिप्राय

जाननेकी इच्छा रखती हुई, गङ्गाके प्रपात (झरना) के समीप उगी हुई घासवाली पार्वती-पिता (हिमालय) की गुफामें घुसी ॥२६॥

सा दुष्प्रधर्षा मनसाऽपि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥२७॥

दण्डान्वयः—सा हिंस्रैः मनसा अपि दुष्प्रधर्षा इति अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन नृपेण अलक्षिताभ्युत्पतनः सिंहः तां प्रसह्य चकर्ष किल ।

सा = धेनुर्हिंस्रैः = व्याघ्रादिभिर्मनसापि दुष्प्रधर्षा = दुर्धर्षेति = हेतोरद्रिशोभायां प्रहितेक्षणेन दत्तदृष्टिना नृपेणाऽलक्षितमभ्युत्पतनमाभिमुख्येनोत्पतनं यस्य स सिंहस्तां = धेनुं प्रसह्य = हठात् । 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यमरः । चकर्ष । किलेत्यलीके ॥ २७ ॥

टीका—वह गाय हिंसक जन्तुओंसे कल्पना द्वारा भी आक्रमण नहीं की जा सकती इस विचारसे पहाड़की शोभामें नज़र गड़ाये हुए राजाके अनदेखे झपटते हुए शेरने उसे बलपूर्वक पकड़ लिया ॥२७॥

तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥२८॥

दण्डान्वयः—गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घं यदीयम् आक्रन्दितम् आर्तसाधोः नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिं-रश्मिषु आदाय इव-निवर्तयामास ।

गुहानिबद्धेन प्रतिशब्देन प्रतिध्वनिना दीर्घम् । तस्या इदं तदीयम् । आक्रन्दितम् = आर्तघोषणम् । आर्तेष्वापन्नेषु साधोर्हितकारिणो नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिम् । रश्मिषु = प्रग्रहेषु । 'किरण-प्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । आदायेव = गृहीत्वेव । निवर्तयामास ॥ २८ ॥

टीका-गुफामें टकराई हुई प्रतिध्वनिसे तेज हुए उसके आर्त्तनाद (डकरानेकी आवाज़) ने दुःखियोंके रक्षक राजाकी हिमालयमें लगी हुई नज़रको—लगाममें पकड़कर (घोड़े) की भाँति-घुमाई ॥ २८ ॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२९॥

दण्डान्वयः—धनुर्धरः सः नृपः पाटलायां गवि तस्थिवांसं केसरिणं-सानुमतः धातुमय्यां अधित्यकायां प्रफुल्लं लोध्रद्रुमम् इव-ददर्श।

धनुर्धरः सः = नृपः पाटलायां = रक्तवर्णायां गवि तस्थिवांसं = स्थितम्। "क्वसुश्च" इति क्वसुप्रत्ययः। केसरिणं = सिंहम्। सानुमतः = अद्रेः। धातोर्गैरिकस्य विकारो धातुमयी। तस्यामधित्यकायाम् ऊर्ध्वभूमौ। 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। "उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः" इति त्यकन्प्रत्ययः। प्रफुल्लो विकसितस्तम्। 'फुल्ल विकसने' इति धातोः पचाद्यच्। 'प्रफुल्लम्' इति तकारपाठे 'जिफला विशरणे' इति धातोः कर्तरि क्तः। "उत्परस्यातः इत्युकारादेशः। लोध्राख्यं द्रुममिव ददर्श ॥ २९ ॥

टीका--धनुषधारी राजा दिलीप ने लाल रंगवाली गाय पर बैठे हुए (धवलवर्णवाले) शेर को-पहाड़ की गेरु धातुवाली ऊँची भूमि पर खिले हुए लोध के पेड़ की भाँति-देखा ॥ २९ ॥

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषङ्गा नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः ॥३०॥

दण्डान्वयः—ततः मृगेन्द्रगामी शरण्यः प्रसभोद्धृतारिः नृपतिः जाताभिषङ्गः (सन्) वध्यस्य मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात् शरम् उद्धर्तुम् ऐच्छत्।

ततः = सिंहदर्शनान्तरं मृगेन्द्रगामी = सिंहगामी। शरणं रक्षणम्। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। 'शरण रक्षणे गृहे' इति यादवः। शरणे साधुः शरण्यः। "तत्र साधुः" इति यत्प्रत्ययः। प्रसभेन बलात्कारेणोद्धृता अरयो येन स नृपतिः = राजा। जाताभिषङ्गः = जातपराभवः सन्। 'अभिषङ्गः पराभवे' इत्यमरः। वध्यस्य = वधार्हस्य। "दण्डादिभ्यो यः" इति यप्रत्ययः। मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात् = तूणीरात्। तूणीपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः। शरमुद्धर्तुमैच्छत॥३०॥

टीका--तब सिंह की तरह गमन करनेवाले, रक्षा करने में कुशल और वैरियों को बल-पूर्वक उखाड़नेवाले राजा ने अपमानित

हो, मार डालने के योग्य शेर के बध के लिए, तरकस से बाण निकालने की इच्छा की ॥ ३० ॥

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥३१॥

दण्डान्वयः--प्रहर्तुः तस्य वामेतरः करः नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे सायकपुङ्खे एव सक्ताङ्गुलिः (सन्)-चित्रार्पितारम्भः इव-अवतस्थे ।

प्रहर्तुस्तस्य वामेतरः = दक्षिणः करः । नखप्रभाभिर्भूषितानि विच्छुरितानि कङ्कस्य पक्षिविशेषस्य पत्राणि यस्य तस्मिन् । 'कङ्कः पक्षिविशेषे स्यादृगुत्साकारे युधिष्ठिरे' इति विश्वः । 'कङ्कस्तु कर्कटः' इति यादवः । सायकस्य पुङ्ख एव कर्तर्याख्ये मूलप्रदेशे । 'कर्तरी पुङ्खे' इति यादवः । सक्ताङ्गुलिः सन् । चित्रार्पितारम्भः = चित्रलिखितशरोद्धरणोद्योग इव । अवतस्थे ॥ ३१ ॥

टीका--उस प्रहार करनेवाले का दहिना हाथ, नखों की कान्ति से भूषित कंक पक्षी के पंखवाली बाण की पूँछही में चिपकी हुई अंगुलीवाला—चित्र में लिखित (बाण निकालने के उद्योग में लगे हुए) की भाँति–हो गया ॥ ३१ ॥

१९३१ बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
१९३२ राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः३२

दण्डान्वयः—बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः राजा-मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः भोगी इव-अभ्यर्णम् आगस्कृतम् अस्पृशद्भिः स्वतेजोभिः अन्तः अदह्यत ।

बाह्वोः प्रतिष्टम्भेन प्रतिबन्धेन । 'प्रतिबन्धः प्रतिष्टम्भः' इत्यमरः । विवृद्धमन्युः प्रवृद्धरोषो राजा । मन्त्रौषधिभ्यां रुद्धवीर्यः प्रतिबद्धशक्तिर्भोगी = सर्प इव । 'भोगी राजभुजङ्गयोः' इति शाश्वतः । अभ्यर्णम्= अन्तिकम् । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अभ्यभितोऽभ्ययम्' इत्यमरः । आगस्कृतम्=अपराधकारिणमस्पृशद्भिः स्वतेजोभिरन्तरदह्यत । 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि' इति यादवः ।

टीका—हाथ के रुक जानेसे बढ़े हुए क्रोधवाले राजा—मन्त्र और जड़ी बूटियोंसे स्तम्भित पराक्रमवाले सर्पकी तरह—सामने खड़े हुए अपराधीको छूनेकी सामर्थ्य न रखने वाले अपने तेजस भीतर-ही-भीतर जलने लगे ॥ ३२ ॥

३९१५ तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगादसिंहः३३

दण्डान्वयः—निगृहीतधेनुः सिंहः आर्यगृह्यं मनुवंशकेतुं सिंहोरुसत्त्वम् आत्मवृत्तौ विस्मितं तं मनुष्यवाचा विस्माययन् निजगाद ।

निगृहीता पीडिता धेनुर्येन स सिंहः । आर्याणां सतां गृह्यं पश्यम्। "पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च" इति क्यप् । मनुवंशस्य केतुं चिह्नं केतुवदुव्यावर्तकम् । सिंहः इवोरुसत्त्वो महाबलस्तम् । आत्मनो वृत्तौ बाहुस्तम्भरूपे व्यापारेऽभूतपूर्वत्वाद्विस्मितम् । कर्तरि क्तः । तं=दिलीपं मनुष्यवाचा करणेन । पुनर्विस्माययन्=विस्मयमाश्चर्यं प्रापयन्निजगाद । 'स्मिङ् ईषद्धसने' इति धातोर्णिचि वृद्धावायादेशे शतृप्रत्यये च सति विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् । 'विस्मापयन्' इति पाठे पुगागममात्रं वक्तव्यम् । तच्च "नित्यं स्मयतेः" इति हेतुभयविवक्षायामेवेति 'भीस्म्योर्हेतुभये" इत्यात्मनेपदे विस्मापयमान इति स्यात् । तस्मान्मनुष्यवाचा विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् । करणविवक्षायां न कश्चिद्दोषः ॥ ३३ ॥

टीका—गाय पर आक्रमण करने वाले शेर ने (उस) सत्पक्षपाती, मनुकुलभूषण, सिंह के समान महाबली, अपने हाथके स्तब्ध रूप व्यापारमें चकित हुए राजाको मनुष्यकी बोली से और चकित करते हुए कहा ॥ ३३ ॥

३९२४ अल महीपाल! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
३९२५ न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥३४॥

दण्डान्वयः—हे महीपाल! तव श्रमेण अलम्। इतः प्रयुक्तम् अस्त्रम् अपि वृथा स्यात् । पादपोन्मूलनशक्ति मारुतस्य रंहः शिलोच्चये न मूर्च्छति ।

हे महीपाल ! तव श्रमेणालम् । साध्याभावाच्छमो न कर्तव्य इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया श्रमस्य करणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्यासोद्द्योते-'न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं करणभावस्य । अपि तर्हि गम्यमानापि' इति । 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः । इतः = अस्मिन्मयि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । प्रयुक्तमप्यस्त्रं वृथा स्यात् । तथा हि पादपोन्मूलने शक्तिर्यस्य तत्तथोक्तं मारुतस्य रंहः = वेगः शिलोच्चये = पर्वते न मूर्च्छति = न प्रसरति ॥ ३४ ॥

टीका—हे राजन् ! बस परिश्रम न करो । मेरे ऊपर चलाया हुआ तुम्हारा अस्त्र भी निष्फल होगा । जैसे, पेड़को उखाड़ने वाली ताकत रखनेवाले पवनका वेग पहाड़के विषयमें निष्फल होता है॥३४॥

१९२७ कैलाशगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ३५

दण्डान्वयः—कैलासगौरं वृषम् आरुरुक्षोः अष्टमूर्तेः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठं निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं माम् अवेहि ।

कैलास इव गौरः शुभ्रस्तम् । 'चामीकरं च शुभ्रं च गौरमाहुर्मनीषिणः' इति शाश्वतः । वृषं = वृषभमारुरुक्षोः = आरोढुमिच्छोः । स्वस्योपरि पदं निक्षिप्य वृषमारोहतेत्यर्थः । अष्टौ मूर्तयो यस्य स तस्याष्टमूर्तेः = शिवस्य पादार्पणं पादन्यासस्तदेवानुग्रहः प्रसादस्तेन पूतं पृष्ठं यस्य तं तथोक्तं निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं मामवेहि = विद्धि । 'पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च । सूर्याचन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यष्टमूर्तयः ॥' इति यादवः ॥ ३५ ॥

टीका—कैलासपर्वतके तुल्य सफेद बैलपर चढ़नेवाले शिवजीके चरण रखनेकी दयासे पवित्र पीठवाला, (पार्वती के शेर) निकुम्भका मित्र, कुम्भोदर नामसे प्रसिद्ध (शिवजीका) अनुचर मुझे जानो॥३५॥

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः॥३६॥

दण्डान्वयः—पुरः अमुं देवदारुं पश्यसि (किम् ?) असौ वृषभध्वजेन पुत्रीकृतः, यः स्कन्दस्य मातुः हेमकुम्भस्तननिःसृतानां पयसां रसज्ञः (अस्ति)।

पुरः = अग्रतोऽमुं देवदारुं पश्यसि। इति काकुः। असौ = देवदारुः। वृषभो ध्वजे यस्य स तेन शिवेन पुत्रीकृतः = पुत्रत्वेन स्वीकृतः। अभूततद्भावे च्विः। यः=देवदारुः स्कन्दस्य मातुः = गौर्या हेम्नः कुम्भ एव स्तनः। तस्मान्निःसृतानां पयसाम् = अम्बूनां रसज्ञः = स्वादज्ञः। स्कन्दपक्षे हेमकुम्भ इव स्तन इति विग्रहः। पयसां क्षीराणाम्। 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः। स्कन्दसमानप्रेमास्पदमिति भावः ॥ ३६ ॥

टीका—सामने उस देवदारके पेड़को देख रहे हो न ? उसे शिवजी ने पुत्र भावसे माना है और कार्तिकेयकी माता (पार्वतीजी) के सोनेके घटरूपी स्तनोंसे निकले हुए दूध रूपी जलके स्वादको जाननेवाला है ॥ ३६ ॥

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥३७॥

दण्डान्वयः—कदाचित् कटं कण्डूयमानेन वन्यद्विपेन अस्य त्वक् उन्मथिता। अथ अद्रेः तनया—असुरास्त्रैः आलीढं सेनान्यम् इव—एनं शुशोच।

कदाचित्कटं = कपोलं कण्डूयमानेन = घर्षयता। "कण्ड्वादिभ्यो यक्" इति यक्। ततः शानच्। वन्यद्विपेनास्य = देवदारोस्त्वगुन्मथिता। अथाऽद्रेस्तनया = गौरी। असुरास्त्रैरालीढं = क्षतम्। सेनां नयतीति सेनानीः स्कन्दः। 'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीः' इत्यमरः। "सत्सूद्विषः" इत्यादिना क्विप्। तमिव। एनं = देवदारुं शुशोच ॥३७॥

टीका—किसी समय कनपटी खुजलानेसे एक जंगली हाथीने इसकी छालको उचेल डाला। तब हिमालयकी कन्या (पार्वती)ने—दैत्यास्त्रोंसे घायल स्कन्दकुमारकी भाँति—इसके प्रति शोक किया ॥३७॥

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्गागतसत्त्ववृत्तिः ३८

दण्डान्वयः—तदाप्रभृति एव वनद्विपानां त्रासार्थं शूलभूता अङ्कागतसत्त्ववृत्ति सिंहत्वं विधाय अस्मिन् अद्रिकुक्षौ अहं व्यापारितः।

तदा तत्कालः प्रभृतिरादिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं = भयार्थं शूलभृता = शिवेन। अङ्कं समीपमागताः प्राप्ताः सत्त्वाः प्राणिनो वृत्तिर्यस्मिंस्तत्। 'अङ्कः समीप उत्सङ्गे चिह्ने स्थानापराधयोः' इति केशवः। सिंहत्वं विधाय। अस्मिन्नद्रिकुक्षौ = गुहायामहं व्यापारितः = नियुक्तः ॥ ३८ ॥

टीका—उसी समयसे ही जंगली हाथियोंको डरानेके लिए शिवजीने समीपमें आए हुए प्राणियों पर जीवन निर्वाह करनेवाली सिंहवृत्ति देकर इस पहाड़की गुफामें मुझे तैनात किया है ॥३८॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥३९॥

दण्डान्वयः—तस्य क्षुधितस्य मे तृप्त्यै परमेश्वरेण प्रदिष्टकाला उपस्थिता एषा शोणितपारणा—सुरद्विषः चान्द्रमसी सुधा इव—अलम्।

परमेश्वरेण प्रदिष्टो निर्दिष्टः कालो भोजनवेला यस्याः सोपस्थिता = प्राप्ता एषा=गोरूपा शोणितपारणा=रुधिरस्य व्रतान्तभोजनम्। सुरद्विषः = राहोः चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी सुधेव। क्षुधितस्य = बुभुक्षितस्य तस्य = अङ्कागतसत्त्ववृत्तेर्मे = मम सिंहस्य तृप्त्यै अलं = पर्याप्ता। "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इत्यनेन चतुर्थी ॥ ३९ ॥

टीका—उस मुझ भूखेकी तृप्ति (भरपेट भोजन) के लिए, शिवजीके बताए हुए भोजनके समय पर उपस्थित, यह लोहूकी पारणा (गोरूप रक्त सम्बन्धी व्रतकी समाप्तिके समयका भोजन) —राहुके लिए चन्द्रसम्बन्धी अमृतके समान—काफी है ॥ ३९ ॥

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान् दर्शितशिष्यभक्तिः।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥

दण्डान्वयः—सः त्वं लज्जां विहाय निवर्तस्व। भवान् गुरोः दर्शितशिष्य-

भक्तिः (अस्ति) । यत् रक्ष्यं शस्त्रेण अशक्यरक्षं तत् (नष्टं अपि) शस्त्रभृतां यशः न क्षिणोति ।

सः = एवमुपायशून्यस्त्वं लज्जां विहाय निवर्तस्व । भवान् = त्वं गुरोर्दर्शिता प्रकाशिता शिष्यस्य कर्तव्या भक्तिर्येन स तथोक्तोऽस्ति । ननु गुरुधनं विनाश्य कथं तत्समीपं गच्छेयमत आह—शस्त्रेणेति । यद्रक्ष्यं = धनं शस्त्रेण = आयुधेन । 'शस्त्रमायुधलोहयोः' इत्यमरः । अशक्या रक्षा यस्य तदशक्यरक्षम् । रक्षितुमशक्यमित्यर्थः । तद्=रक्ष्यं नष्टमपि शस्त्रभृतां यशो न क्षिणोति = न हिनस्ति । अशक्यार्थेष्वप्रतिविधानं न दोषायेति भावः ॥ ४० ॥

टीका—इस प्रकार उपायसे शून्य तुम लज्जाको छोड़कर लौट जाओ । तुमने गुरुके प्रति शिष्योंके योग्य भक्ति दिखला दी । जो रक्षा करने योग्य वस्तु शस्त्रसे रक्षा करनेके योग्य नहीं होती वह (नष्ट होती हुई भी) शस्त्रधारियोंकी कीर्तिको दूषित नहीं कर सकती ॥ ४० ॥

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥४१॥

दण्डान्वयः—इति मृगाधिराजस्य प्रगल्भं वचः निशम्य गिरिशप्रभावात् प्रत्याहतास्त्रः पुरुषाधिराजः आत्मनि अवज्ञां शिथिलीचकार ।

पुरुषाणामधिराजो नृप इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचो निशम्य = श्रुत्वा गिरिशस्येश्वरस्य प्रभावात्प्रत्याहतास्त्रः = कुण्ठितास्त्रः सन्नात्मनि विषयेऽवज्ञाम् = अपमानं शिथिलीचकार । तत्याजेत्यर्थः । अवज्ञातोऽहमिति निर्वेदं न प्रापेत्यर्थः । समानेषु हि क्षत्रियाणामभिमानः, न सर्वेश्वरं प्रतीति भावः ॥ ४१ ॥

टीका—इस प्रकार सिंहके ढीठ वचनको सुनकर, शिवजीके प्रभावसे रुके हुए अस्त्रवाले राजाने अपने सम्बन्धमें अपमानके भाव को शिथिल कर दिया ॥ ४१ ॥

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ ४२ ॥

दण्डान्वयः—च तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नः वज्रं मुमुक्षन् त्र्यम्बकवीक्षणेन जडीकृतः वज्रपाणिः इव—एनं प्रत्यब्रवीत् ।

स एव पूर्वः प्रथमो भङ्गः प्रतिबन्धो यस्य तस्मिंस्तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नः = विफलप्रयासः । अत एव वज्रं = कुलिशं मुमुक्षन् = मोक्तुमिच्छन् । अम्बकं लोचनम् । 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः । त्रीण्यम्बकानि यस्य स त्र्यम्बको हरः । तस्य वीक्षणेन जडीकृतः = निष्पन्दीकृतः । वज्रं पाणौ यस्य स वज्रपाणिः = इन्द्रः । "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम्" इति पाणेः सप्तम्यन्तस्योत्तरनिपातः । स इव स्थितो नृप एनं=सिंहं प्रत्यब्रवीच्च । 'बाहुं सवज्रं शक्रस्य क्रुद्धस्यास्तम्भयत्प्रभुः' इति महाभारते ॥ ४२ ॥

टीका—पहले पहल रुकावट पड़ने पर बाण चलाने में निष्फल प्रयत्नवाले राजाने—वज्र प्रहार करनेकी इच्छा करनेवाले, शिवजी के देखने से निश्चेष्ट हुए, इन्द्र के समान—सिंह से कहा ॥ ४२ ॥

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र ! कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ४३

दण्डान्वयः—हे मृगेन्द्र ! संरुद्धचेष्टस्य (मम) तत् वचः कामं हास्यम् हि यत् अहं विवक्षुः भवान् प्राणभृताम् अन्तर्गतं सर्वं भावं वेद, अतः अभिधास्ये

हे मृगेन्द्र ! संरुद्धचेष्टस्य = प्रतिबद्धव्यापारस्य मम तद्वचः = वाक्यं कामं हास्यं = परिहसनीयम् । यद् = वचः 'स त्वं मदीयेन' (२।४५) इत्यादिकमहं विवक्षुः = वक्तुमिच्छुरस्मि । तर्हि तूष्णीं स्थीयतामित्याशङ्क्याह-ईश्वरकिङ्करत्वात्सर्वज्ञ त्वां प्रति न हास्यमित्याह—अन्तरिति । हि= यतो भवान्प्राणभृतामन्तर्गतं = हृद्गतं वाग्वृत्त्या बहिरप्रकाशितमेव सर्वं भावं वेद = वेत्ति । "विदो लटो वा" इति झलादेशः । अतोऽहमभिधास्ये = वक्ष्यामि । वच इति प्रकृतं कर्म सम्बध्यते । अन्ये त्वीदृग्वचन-

माकर्ण्यासम्भावितार्थमेतदित्युपहसन्ति । अतस्तु मौनमेव भूषणम् । त्वं तु वाङ्मनसयोरेकविध एवायमिति जानासि । अतोऽभिधास्ये यद्वचोऽहं विवक्षुरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

टीका—हे मृगराज! मुझ चेष्टा रुके हुए की यह बात अत्यन्त हास्यजनक है, जिसे मैं कहने जा रहा हूं। आप प्राणियों के मनोगत सब भावों को जानते हैं, इसलिए कहूँगा ॥ ४३ ॥

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥४४॥

दण्डान्वयः—स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः सः मे मान्यः । आहिताग्नेः गुरोः पुरस्तात् नश्यत् इदं धनम् अपि अनुपेक्षणीयम् ।

प्रत्यवहारः प्रलयः । स्थावराणां तरुशैलादीनां जङ्गमानां मनुष्यादीनां सर्गस्थितिप्रत्यवहारेषु हेतुः सः = ईश्वरो मे = मम मान्यः=पूज्यः । अलङ्घ्यशासन इत्यर्थः । शासनं च 'सिंहत्वमङ्गागतसत्त्ववृत्ति' (२।३८) इत्युक्तरूपम् । तर्हि विसृज्य गम्यताम् । नेत्याह—गुरोरपीति । पुरस्ताद्= अग्रे नश्यदिदमाहिताग्नेर्गुरोर्धनमपि गोरूपमनुपेक्षणीयम् । आहिताग्नेरिति विशेषणेनानुपेक्षाकारणं हविःसाधनत्वं सूचयति ॥ ४४ ॥

टीका—स्थावर (वृक्ष-पर्वत आदि) और जङ्गम (मनुष्यादि) के उत्पन्न, पालन और नाश करने वाले वे शिवजी मेरे पूजनीय हैं (किन्तु) अग्निहोत्री गुरु का सम्मुख नष्ट होता हुआ यह (गौ) धन भी तो उपेक्षा न करने के योग्य है ॥ ४४ ॥

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद ।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥४५॥

दण्डान्वयः—सः त्वं मदीयेन देहेन शरीरवृत्तिं निर्वर्तयितुं प्रसीद । दिनावसानोत्सुकबालवत्सा महर्षेः इयं धेनुः विसृज्यताम् ।

सः = अङ्गागतसत्त्ववृत्तिस्त्वं मदीयेन देहेन शरीरस्य वृत्तिं जीवनं निर्वर्तयितुं = सम्पादयितुं प्रसीद । दिनावसान उत्सुको माता समागमि-

ष्यतीत्युत्कण्ठितो बालवत्सो यस्याः सा महर्षेरियं धेनुर्विसृज्यताम् ॥४५॥

टीका—वह तू मेरे शरीर से अपने देह के जीवन को सम्पादन करने के लिए (भूख बुझाने के निमित्त) प्रसन्न हो। सन्ध्या समय उत्कण्ठित छोटे बछड़े वाली महर्षिकी इस गायको छोड़ दो ॥४५॥

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥४६॥

दण्डान्वयः— अथ दंष्ट्रामयूखैः गिरिगह्वराणाम् अन्धकारं शकलानि कुर्वन् (सन्) भूतेश्वरपार्श्ववर्ती सः किञ्चित् विहस्य अर्थपतिं भूयः बभाषे।

अथ भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्त्यनुचरः सः=सिंहो गिरेर्गह्वराणां गुहा नाम्। 'देवखातबिले गुहा। गह्वरम्' इत्यमरः। अन्धकारं=ध्वान्तं दंष्ट्रामयूखैः शकलानि=खण्डानि कुर्वन्। निरस्यन्नित्यर्थः। किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं=नृपं भूयो बभाषे। हासकारणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्' (२।४७) इति वक्ष्यमाणं द्रष्टव्यम् ॥ ४६ ॥

टीका—तब दाढ़ों की कान्ति से पहाड़ की गुफाओं के अन्धकार को टुकड़े-टुकड़े करता हुआ, शिवजी के समीप रहनेवाले उस (शेर) ने कुछ हँसकर राजा से फिर कहा ॥ ४६ ॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥४७॥

दण्डान्वयः— जगतः एकातपत्रं प्रभुत्वं, नवं वयः च इदं कान्तं वपुः (इति एवं) बहु अल्पस्य हेतोः हातुम् इच्छन् त्वं विचारमूढः मे प्रतिभासि।

एकातपत्रम्=एकच्छत्रं। जगतः प्रभुत्वं=स्वामित्वम्। नवं वयः=यौवनम्। इदं कान्तं=रम्यं वपुश्च। इत्येवं बहु। अल्पस्य हेतोः=अल्पेन कारणेन। अल्पफलायेत्यर्थः। "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इति षष्ठी। हातुं=त्यक्तुमिच्छंस्त्वं विचारे कार्याकार्यविमर्शे मूढो मूर्खो मे=मम प्रतिभासि ॥४७॥

टीका—संसार के एक छत्र वाले आधिपत्य, नयी जवानी और इस सुन्दर शरीर को, थोड़े के लिए (पूर्व कथित) बहुतों को,

छोड़ने की इच्छा रखता हुआ तू मुझे कर्तव्याकर्तव्य विचार में मूर्ख मालूम पड़ता है ॥ ४७ ॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ ! पितेव पासि॥४८॥

दण्डान्वयः—तव भूतानुकम्पा चेत् त्वदन्ते इयम् एका गौः स्वस्तिमती भवेत् हे प्रजानाथ ! जीवन् पुनः पिता इव प्रजाः उपप्लवेभ्यः शश्वत् पासि ।

तव भूतेष्वनुकम्पा कृपा चेत् । 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यात्' इत्यमरः । कृपैव वर्तते चेदित्यर्थः । तर्हि त्वदन्ते = तव नाशे, सतीयमेका गौः । स्वस्ति क्षेममस्या अस्तीति स्वस्तिमती भवेत् । जीवेदित्यर्थः । 'स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः । हे प्रजानाथ ! जीवन्पुनः पितेव प्रजा उपप्लवेभ्यः = विघ्नेभ्यः शश्वत् = सदा 'पुनःसहार्थयोः शश्वत्' इत्यमरः । पासि = रक्षसि । स्वप्राणव्ययेनैकधेनुरक्षणाद्वरं जीवितेनैव शश्वदखिलजगत्त्राणमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

टीका—तुम्हारी प्राणियों पर दया यदि है तो (विचार कर कि) तुम्हारे मरने पर यह एक ही गौ कुशलपूर्वक होगी । हे राजन् ! जीते हुए तुम—पिता की भाँति—प्रजा [(१) रैयत, (२) सन्तान] की विघ्नों से सदा रक्षा करोगे ॥ ४८ ॥

न धर्मलोपादित्ययं प्रवृत्तिः किन्तु गुरुभयादित्यत आह—

१९११ १९२० अथैकधेनोरपराधचण्डाद्गुराः कृशानुप्रतिमाद्विभेषि ।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाःकोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः

दण्डान्वयः—अथ (वा) एकधेनोः अपराधचण्डात् कृशानुप्रतिमात् गुरोः विभेषि, (किम्) ? कोटिशः घटोध्नीः गाः स्पर्शयता भवता अस्य मन्युः विनेतुं शक्यः ।

अथ = इति पक्षान्तरे । अथ वा एकैव धेनुर्यस्य तस्मात् । अयं कोपकारणोपन्यास इति ज्ञेयम् । अत एवापराधे गवोपेक्षालक्षणे सति चण्डादतिकोपनात् । 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । अत एव कृशानुः प्रति-

मोपमा यस्य तस्मादग्निकल्पादगुरोर्बिभेषि । इति काकुः । "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यपादानात्पञ्चमी । अस्य वित्तस्य धनहानिरतिदुःसहेति भावः । अस्य = गुरोर्मन्युः = क्रोधः । 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः । घटा इवोधांसि यासां ताः घटोध्नीः । "ऊधसोऽनङ्" इत्यनङादेशः । "बहुव्रीहेरूधसो ङीप्" इति ङीप् । कोटिशो गाः स्पर्शयता = प्रतिपादयता । 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इत्यमरः । भवता विनेतुम् = अपनेतुं शक्यः ॥ ४९ ॥

टीका—अथवा एक गायवाले, अपराधके कारण कुपित, अग्नि स्वरूप वाले गुरूसे डरते हो (क्या)? तो करोड़ों कलशस्तनी गायोंको बदले में देते हुए आप उनके क्रोधको शान्त करनेमें समर्थ हो सकते हैं ॥ ४९ ॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥

दण्डान्वयः—तत् कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् ऊर्जस्वलम् आत्मदेहं रक्ष । हि ऋद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम् ऐन्द्रं पदम् आहुः ।

तत् = तस्मात्कारणात् कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् । कर्मणि षष्ठी । ऊर्जो बलमस्यास्तीत्यूर्जस्वलम् । "ज्योत्स्नातमिस्रा०" इत्यादिना वलच्प्रत्ययान्तो निपातः । आत्मदेहं रक्ष । ननु गामुपेक्ष्यात्मदेहरक्षणे स्वर्गहानिः स्यात् । नेत्याह—महीतलेति । हि, ऋद्धं=समृद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्धमात्रेण भिन्नमैन्द्रम् = इन्द्रसम्बन्धि पदं= स्थानमाहुः । स्वर्याच्च भिद्यत इत्यर्थः ॥ ५० ॥

टीका—इसलिए उत्तरोत्तर सुखोंके उपभोग करने वाले, बहुत बलवाले अपने शरीरकी रक्षा करो । क्योंकि समृद्धिशाली राज्यको पृथ्वीतल से सम्बन्ध होनेही के कारण भिन्न, स्वर्ग कहते हैं ॥५०॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥५१॥

दण्डान्वयः—मृगेन्द्रे एतावत् उक्त्वा विरते (सति) गुहागतेन अस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः अपि प्रीत्या तम् एव अर्थं क्षितिपालम् उच्चैः अभाषत इव।

मृगेन्द्र एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य = सिंहस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः = शैलोऽपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभाषतेव । इत्युत्प्रेक्षा । भाषिरयं ब्रुविसमानार्थत्वाद्द्विकर्मकः । ब्रुविस्तु द्विकर्मकेषु पठितः। तदुक्तम्—'दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिजामुपयोगनिमित्तपूर्वविधौ । ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना ॥' इति ॥५१॥

टीका—सिंहके इतना कहकर चुप हो जाने पर, कन्दरा में उठी हुई इसकी प्रतिध्वनिसे पर्वतने भी प्यारसे मानो उसी बातको राजा से जोरसे कही ॥५१॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥

दण्डान्वयः—देवानुचरस्य वाचं निशम्य तदध्यासितकातराक्ष्या धेन्वा निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः मनुष्यदेवः पुनः अपि उवाच ।

देवानुचरस्य = ईश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवः = राजा पुनरप्युवाच । किम्भूतः सन्। तेन सिंहेन यदध्यासितं व्याक्रमणम्। नपुंसके भावे क्तः। तेन कातरे अक्षिणी यस्यास्तया । "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्पच्" इति पच् । "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीप् । किं वा वक्ष्यतीति भीत्यैवं स्थितयेत्यर्थः । धेन्वा निरीक्ष्यमाणः । अत एव सुतरां दयालुः सन् । सुतरामित्यत्र "द्विवचनविभज्य०" इत्यादिना सुशब्दात्तरप् । 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे" इत्यनेनाम्प्रत्ययः । "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" इत्यव्ययसंज्ञा ॥ ५२ ॥

टीका—शिवजीके सेवककी बात सुनकर, उसके द्वारा आक्रान्त होनेसे भयभीत आँखोंवाली नन्दिनीगायसे देखे जाते हुए, अतएव दयावान नरपतिने फिर भी कहा ॥ ५२ ॥

किमुवाचेत्याह—

१९२८ १९३३ { क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥५३॥

दण्डान्वयः—उदग्रः क्षत्रस्य शब्दः 'क्षतात् त्रायते' इति भुवनेषु रूढः किल । तद्विपरीतवृत्तेः राज्येन किम् ? । वा उपक्रोशमलीमसैः प्राणैः किम् ?

'क्षणु हिंसायाम्' इति धातोः सम्पदादित्वात्क्विप् *गमादीनाम्* इति वक्तव्यादनुनासिकलोपे तुगागमे च क्षदिति रूपं सिद्धम् । क्षतो नाशात् त्रायत इति क्षत्रः । सुपीति योगविभागात्कः, तामेतां व्युत्पत्तिं कविरर्थतोऽनुक्रामति—क्षतादित्यादिना । उदग्रः = उन्नतः क्षत्रस्य = क्षत्रवर्णस्य शब्दः = वाचकः । क्षत्रशब्द इत्यर्थः । क्षत्रात्त्रायत इति व्युत्पत्या भुवनेषु रूढः किल = प्रसिद्धः खलु । नाश्वकर्णादिवत्केवलरूढः किन्तु पङ्कजादिवद्योगरूढ इत्यर्थः । ततः किमित्यत आह—तस्य क्षत्रशब्दस्य विपरीतवृत्तेर्विरुद्धव्यापारस्य क्षतस्त्राणमकुर्वतः पुंसो राज्येन किम् । उपक्रोशमलीमसैः = निन्दामलिनैः । 'उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे' इत्यमरः । "ज्योत्स्ना तमिस्रा०" इत्यादिना मलीमसशब्दो निपातितः । 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः । तैः प्राणैर्वा किम् । निन्दितस्य सर्वं व्यर्थमित्यर्थः । एतेन 'एकातपत्रम्' (२।४७) इत्यादिना श्लोकद्वयेनोक्तं प्रत्युक्तमिति वेदितव्यम् ॥५३॥

टीका—उन्नत क्षत्रियवर्णका वाचक शब्द 'नाशसे जो बचावे वह क्षत्रिय है' इस व्युत्पत्तिसे संसारमें (पङ्कजादिकी तरह) योगरूढ़िसे प्रसिद्ध है । उस (क्षत्र शब्द) से विपरीत आचरणवाले पुरुषके राज्यसे क्या प्रयोजन ? या लोकनिन्दासे मलिन हुए प्राणों से क्या लाभ ? ॥ ५३ ॥

"अथैकधेनोः (२ । ४९)" इत्यत्रोत्तरमाह—

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥५४॥

दण्डान्वयः—च अन्यपयस्विनीनां विश्राणनात् महर्षेः अनुनयः कथं नु शक्यः ? । इमां सुरभेः अनूनाम् अवेहि । त्वया तु अस्यां रुद्रौजसा प्रहृतम् ।

अनुनयः क्रोधापनयः । चकारो वाकारार्थः । महर्षेरनुनयो वाऽन्यासां पयस्विनीनां दोग्ध्रीणां गवां विश्राणनाद् = दानात् । 'त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने । विश्राणनं वितरणम्' इत्यमरः । कथं नु शक्यः । न शक्य इत्यर्थः । अत्र हेतुमाह-इमां = गां सुरभेः = कामधेनोः । "पञ्चमी विभक्ते" इति पञ्चमी । अनूनान् = अन्यूनामवेहि=जानीहि । तर्हि कथमस्याः परिभवोऽभूदित्याह-रुद्रौजसेति । अस्यां = गवि त्वया = कर्त्रा प्रहृतं तु = प्रहारस्तु । नपुंसके भावे क्तः । रुद्रौजसा = ईश्वरसामर्थ्येन । न तु स्वयमित्यर्थः । "सप्तम्यधिकरणे च" इति सप्तमी ॥ ५४ ॥

टीका—और दूसरी दुधारु गायोंके देनेसे महर्षिके क्रोधकी शान्ति किस प्रकार हो सकती है ? इसे कामधेनुसे कम न समझो। तुमने तो इसपर शिवजीके सामर्थ्यसे प्रहार किया है ॥ ५४ ॥

तर्हि किं चिकीर्षितमित्यत्राह—

१९२२ १९३५ सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ५५

दण्डान्वयः-सा इयं मया स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण भवत्तः मोचयितुं न्याय्या । एवं (सति) तव पारणा विहता न स्यात्, च मुनेः क्रियार्थः अलुप्तः भवेत् ।

सेयं = गौर्मया । निष्क्रीयते प्रत्याह्रियतेऽनेन परिगृहीतमिति निष्क्रयः प्रतिशीर्षकम् । "एरच" इत्यच्प्रत्ययः । स्वदेहार्पणमेव निष्क्रयस्तेन भवत्तः=त्वत्तः, पञ्चम्यास्तसिल् । मोचयितुं न्याय्या=न्यायादनपेता । युक्तेत्यर्थः । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इत्यनेन यत्प्रत्ययः । एवं सति तव पारणा = भोजनं विहता न स्यात् । मुनेः क्रिया होमादिः स एवार्थः प्रयोजनम् । स चालुप्तो भवेत् । स्वप्राणव्ययेनापि स्वामिगुरुधनं संरक्ष्यमिति भावः ॥ ५५ ॥

टीका--इस गाय का अपने शरीर के त्याग कर देने रूप निष्क्रय से आपसे छुड़ाना उचित है । ऐसा करने पर आपका व्रतान्त भोजन नष्ट न होगा, और मुनि की यज्ञादि क्रिया का साधन (भी) लुप्त न होगा ॥ ५५ ॥

अत्र भवानेव प्रमाणमित्याह—

१६२६ { भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ ।
{ स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन

दण्डान्वयः—परवान् भवान् अपि इदम् अवैति । हि तव देवदारौ महान् यत्नः । रक्ष्यं विनाश्य स्वयम् अक्षतेन नियोक्तुः अग्रे स्थातुं शक्यं न हि ।

परवान्=स्वामिपरतन्त्रो भवानपि । 'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि' इत्यमरः । इदं = वक्ष्यमाणमवैति । भवताऽनुभूयत एवेत्यर्थः । "शेषे प्रथमः" इति प्रथमपुरुषः । किमित्यत आह—हि = यस्माद्धेतोः । 'हि हेतावधारणे' इत्यमरः । तव देवदारौ विषये महान् यत्नः । महता यत्नेन रक्ष्यत इत्यर्थः । इदं शब्दोक्तमर्थं दर्शयति—स्थातुमिति । रक्ष्यं वस्तु विनाश्य = विनाशं गमयित्वा स्वयमक्षतेन = अव्रणेन । नियुक्तेनेति शेषः । नियोक्तुः = स्वामिनोऽग्रे स्थातुं शक्यं न हि ॥ ५६ ॥

टीका- पराधीन होते हुए आप भी यह जानते हैं, क्योंकि आपका देवदार के सम्बन्ध में बहुत भारी प्रयत्न है । रक्षा करने के योग्य वस्तु को नष्ट करके स्वयं अक्षत (बिना घायल हुए) शरीर से मालिक के आगे खड़ा होने में (नौकर) असमर्थ है ॥ ५६ ॥

सर्वथा चैतदप्रतिहार्यमित्याह—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ५७

दण्डान्वयः— किम् अपि अहं तव अहिंस्यः मतः चेत् (तर्हि) मे यशःशरीरे दयालुः भव । मद्विधानाम् एकान्तविध्वंसिषु भौतिकेषु पिण्डेषु अनास्था खलु ।

किमपि=किं वाहं तवाहिंस्यः=अवध्यो मतश्चेत्तर्हि मे यश एव शरीरं तस्मिन् दयालुः = कारुणिको भव। 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः। ननु मुख्यमुपेक्ष्यामुख्यशरीरे कोऽभिनिवेशः। अत आह—एकान्तेति। मद्विधानां = मादृशानां विवेकिनामेकान्तविध्वंसिषु = अवश्यविनाशिषु भौतिकेषु = पृथिव्यादिभूतविकारेषु पिण्डेषु = शरीरेष्वनास्था खलु = अनपेक्षैव। 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यते' इति विश्वः॥

टीका—यदि मैं तुम्हारे मत से अवध्य हूँ तो मेरे यश रूपी शरीर पर दयालु हो। हमारे जैसे लोगों की अवश्य विनाश होने-वाले भौतिक (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश-इन पाँच महा-भूतों से बने) शरीर में अपेक्षा नहीं होती॥ ५७॥

सौहार्दादहमनुसरणीयोऽस्मीत्याह—

१९३२ { सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते।
तद्भूतनाथानुग! नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम्

दण्डान्वयः—सम्बन्धम् आभाषणपूर्वम् आहुः। सः वनान्ते सङ्गतयोः नौ वृत्तः। तद् हे भूतनाथानुग! त्वं सम्बन्धिनः मे प्रणयं विहन्तुं न अर्हसि।

सम्बन्धं = सख्यम्। आभाषणमालापः पूर्वं कारणं यस्य तमाहुः। 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः। सः = तादृक्सम्बन्धो वनान्ते सङ्गत-योर्नौ = आवयोर्वृत्तः= जातः। तत् = ततो हेतोर्हे भूतनाथानुग = शिवा-नुचर! एतेन तस्य महत्त्वं सूचयति। अत एव सम्बन्धिनः = मित्रस्य मे प्रणयं = याच्ञाम्। 'प्रणयास्त्वमी। विश्रम्भयाच्ञाप्रेमाणः' इत्यमरः। विहन्तुं नार्हसि॥ ५८॥

टीका—मित्रता को सम्भाषणपूर्व (बातचीत के द्वारा उत्पन्न) कहते हैं। वह वन के बीच में मिले हुए हम दोनों का हो चुका है। इसलिए हे शिवानुचर! तुम मेरे जैसे मित्र की प्रार्थना को उल्लंघन करने के योग्य नहीं हो॥ ५८॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥५९॥

दण्डान्वयः— तथा इति गाम् उक्षवते हरये सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः न्यस्तशस्त्रः सः दिलीपः स्वदेहम् आमिषस्य पिण्डम् इव उपानयत् ।

तथेति गामुक्षवते हरये = सिंहाय । 'कपौ सिंहे सुवर्णे च वर्णे विष्णौ हरिं विदुः' इति शाश्वतः । सद्यः = तत्क्षणे प्रतिष्टम्भात्प्रतिबन्धाद्विमुक्तो बाहुर्यस्य स दिलीपः । न्यस्तशस्त्रः = त्यक्तायुधः सन् । स्वदेहम् । आमिषस्य = मांसस्य । 'पललं क्रव्यमामिषम्' इत्यमरः । पिण्डं = कवलमिव । उपानयत् = समर्पितवान् । एतेन निर्ममत्वमुक्तम् ॥ ५९ ॥

टीका—'अच्छा' इस बाणी को कहने वाले शेर के निमित्त तुरत बन्धन से खुली बाँहवाले और हथियार छोड़े हुए उस दिलीप ने अपने शरीर को-माँस के लोथ के समान-अर्पण कर दिया ॥५९॥

१६२५ तस्मिन्क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥

दण्डान्वयः—तस्मिन् क्षणे उग्रं सिंहनिपातम् उत्पश्यतः अवाङ्मुखस्य प्रजानां पालयितुः उपरि विद्याधरहस्तमुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ।

तस्मिन्क्षण उग्रं सिंहनिपातमुत्पश्यतः = उत्प्रेक्षमाणस्य तर्कयतोऽवाङ्मुखस्य = अधोमुखस्य । 'स्यादवाङप्यधोमुखः' इत्यमरः । प्रजानां पालयितुः = राज्ञ उपरि = उपरिष्टात् । "उपर्युपरिष्टात्" इति निपातः । विद्याधराणां देवयोनिविशेषाणां हस्तैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ॥६०॥

टीका—उसी समय क्रूर शेर के झपटने की बाट देखनेवाले, नीचे मुँह किए, प्रजाओं का पालन करनेवाले (दिलीप) के ऊपर विद्याधर के हाथ से छूटी हुई पुष्पवर्षा हुई ॥ ६० ॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥६१॥

दण्डान्वयः—हे वत्स ! उत्तिष्ठ इति अमृतायमानम् उत्थितं वचः निशम्य उत्थितः सन् राजा अग्रतः प्रस्रविणीं गां -स्वां जननीम् इव -ददर्श, सिंहं न (ददर्श) ।

राजा । अमृतमिवाचरतीत्यमृतायमानं तत् । "उपमानादाचारे" इति क्यङ् । ततः शानच् । उत्थितम् = उत्पन्नम् । 'हे वत्स ! उत्तिष्ठ' इति वचो निशम्य = श्रुत्वा । उत्थितः सन् । अस्तेः शतृप्रत्ययः । अग्रतः = अग्रे प्रस्रवः क्षीरस्रावोऽस्ति यस्याः सा तां प्रस्रविणीं गां स्वां जननीमिव ददर्श । सिंहं न ददर्श ॥ ६१ ॥

टीका—'हे पुत्र ! उठो' ऐसा अमृतमय (नन्दिनी के मुँह से) निकले हुए वचन को सुनकर उठते ही राजा ने सामने टपकते हुए दूधवाली गायको-अपनी माता के समान-देखा, शेर को नहीं ॥६१॥

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ६२

दण्डान्वयः—विस्मितं तं धेनुः उवाच । हे साधो ! मया मायाम् उद्भाव्य परीक्षितः असि । ऋषिप्रभावात् अन्तकः अपि मयि प्रहर्तुं न प्रभुः, किमुत अन्यहिंस्राः ? ।

विस्मितम् = आश्चर्यं गतम् । कर्तरि क्तः । तं = दिलीपं धेनुरुवाच । किमित्यत्राह—हे साधो ! मया मायामुद्भाव्य = कल्पयित्वा परीक्षितोऽसि । ऋषिप्रभावान्मय्यन्तकः = यमोऽपि प्रहर्तुं न प्रभुः = न समर्थः । अन्ये हिंस्रा घातुकाः । 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः" इत्यादिना रप्रत्ययः । किमुत सुष्ठु न प्रभव इति योज्यम् । 'बलवत्सुष्ठु किमुत स्वस्त्यतीव च निर्भरे' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

टीका—अचम्भे में आए हुए राजा से नन्दिनी ने कहा—हे सज्जन ! मैंने माया रचकर तेरी परीक्षा ली है । महर्षि के प्रताप से यमराज भी मुझ पर प्रहार करने में समर्थ नहीं हैं, तो फिर दूसरे हिंसकों की क्या (ताकत है) ? ॥ ६२ ॥

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र ! वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥६३॥

दण्डान्वयः—गुरौ भक्त्या च मयि अनुकम्पया ते प्रीता अस्मि । हे

पुत्र ! वरं वृणीष्व । मां केवलानां पयसां प्रसूतिं न अवेहि । (किन्तु) प्रसन्नां कामदुघाम् (अवेहि) ।

हे पुत्र ! गुरौ भक्त्या । मय्यनुकम्पया च । ते = तुभ्यं प्रीतास्मि । 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति चतुर्थी । वरं = देवेभ्यो वरणीयमर्थम् । 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये' इत्यमरः । वृणीष्व=स्वीकुरु । तथा हि । मां केवलानां पयसां प्रसूतिं=कारणं नावेहि = न विद्धि । किन्तु प्रसन्नां माम् । कामान्दोग्धीति कामदुघा तामवेहि । "दुहः कब्घश्च" इति कप्प्रत्ययः ॥ ६३ ॥

टीका—महर्षि में भक्ति और मेरे ऊपर दया करने से मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ । हे पुत्र ! वर मांगो । मुझे निरी दूध देनेवाली मत समझो । (किन्तु) प्रसन्न होकर मनोरथ को पूरो करने वाली (मुझे जानो) ॥ ६३ ॥

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः ।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥६४॥

दण्डान्वयः—ततः मानितार्थी स्वहस्तार्जितवीरशब्दः सः हस्तौ समानीय सुदक्षिणायां वंशस्य कर्तारम् अनन्तकीर्तिं तनयं ययाचे ।

ततो मानितार्थी । स्वहस्तार्जितो वीर इति शब्दो येन सः । एतेनास्य दातृत्वं दैन्यराहित्यं चोक्तम् । सः = राजा हस्तौ समानीय = सन्धाय । अञ्जलिं बद्ध्वेत्यर्थः । वंशस्य कर्तारं=प्रवर्तयितारम् । अत एव रघुकुलमिति प्रसिद्धिः । अनन्तकीर्तिं=स्थिरयशसं तनयं सुदक्षिणायां ययाचे ६४

टीका—तब अतिथियों को सम्मानित करने वाले, निज बाहुबल से 'वीर' शब्द को प्राप्त करने वाले, राजा ने दोनों हाथों को जोड़कर सुदक्षिणा में वंश को चलाने वाले स्थिर यशशाली पुत्र होने की याचना की ॥ ६४ ॥

सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुंक्ष्वेति तमादिदेश ॥ ६५ ॥

दण्डान्वयः—सा पयस्विनी सन्तानकामाय राज्ञे 'तथा' इति कामं प्रतिश्रुत्य 'हे पुत्र ! मदीयं पयः पत्रपुटे दुग्ध्वा उपभुंक्ष्व' इति तम् आदिदेश ।

सा पयस्विनी=गौः । सन्तानं कामयत इति सन्तानकामः । "कर्मण्यण" । तस्मै राज्ञे तथेति । काम्यत इति कामो वरः । कर्मार्थे घञ्प्रत्ययः । तं प्रतिश्रुत्य = प्रतिज्ञाय 'हे पुत्र ! मदीयं पयः पत्रपुटे = पत्रनिर्मिते पात्रे दुग्ध्वोपभुंक्ष्व = पिब' । इति तमादिदेश = आज्ञापितवती । 'उपयुंक्ष्व' इति वा पाठः ॥ ६५ ॥

टीका—उस गौ ने पुत्र चाहनेवाले राजा से 'वैसा ही हो' इस वरदान की प्रतिज्ञा करके 'हे पुत्र ! मेरे दूध को पत्ते के दोने में दुह कर पी जाओ' ऐसा उसको आज्ञा दी ॥ ६५ ॥

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ।
और्ध्वस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥६६॥

दण्डान्वयः—हे मातः ! वत्सस्य च होमार्थविधेः शेषं ऋषेः अनुज्ञाम् अधिगम्य तव औधस्यं—रक्षितायाः उर्व्याः षष्ठांशभागम् इव—उपभोक्तुम् इच्छामि ।

हे मातः ! वत्सस्य = वत्सपीतस्य शेषम् । वत्सपीतावशिष्टमित्यर्थः । होम एवार्थः । तस्य विधिरनुष्ठानम् । तस्य च शेषम् । होमावशिष्टमित्यर्थः । तव । ऊधसि भवमौधस्यं = क्षीरम् । "शरीरावयवाच्च" इति यत्प्रत्ययः । रक्षिताया उर्व्याः षष्ठांशं = षष्ठभागमिव । ऋषेरनुज्ञामधिगम्य उपभोक्तुमिच्छामि ॥ ६६ ॥

टीका— हे माता ! बछड़े के (पीने से) और हवनक्रिया से बचे हुए तुम्हारे दूध को ऋषि की आज्ञा पाकर—पालन की गयी पृथिवी के छठे हिस्से की तरह —पीना चाहता हूँ ॥ ६६ ॥

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥६७॥

दण्डान्वयः—इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठधेनुः प्रीततरा बभूव । च तदन्विता (वसिष्ठधेनुः) हैमवतात् कुक्षेः (सकाशात्) अश्रमेण आश्रमम् प्रत्याययौ ।

इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्टस्य धेनुः प्रीततरा। पूर्वं शुश्रूषया प्रीता। सम्प्रत्यनया विज्ञापनया प्रीततरा = अतिसन्तुष्टा बभूव। तदन्विता=तेन दिलीपेनान्विता हैमवतात् = हिमवत्सम्बन्धिनः कुक्षेः = गुहायाः सकाशादश्रमेण = अनायासेनाऽऽश्रमं प्रत्याययौ = आगता च ॥ ६७ ॥

टीका—इस तरह राजा की प्रार्थना से महर्षि वशिष्ठ की गाय बहुत प्रसन्न हुई। और राजा के साथ हिमालय की गुफा से बिना परिश्रम के आश्रम के प्रति लौटी ॥ ६७ ॥

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥६८॥

दण्डान्वयः—प्रसन्नेन्दुमुखः नृपाणां गुरुः प्रहर्षचिह्नानुमितं तस्याः प्रसादं—पुनरुक्तया वाचा इव—गुरवे निवेद्य प्रियायै (तस्याः प्रसादं) शशंस।

प्रसन्नेन्दुरिव मुखं यस्य स नृपाणां गुरुः = दिलीपः प्रहर्षचिह्नैर्मुखरागादिभिरनुमितमूहितं तस्याः = धेनोः प्रसादम् = अनुग्रहं प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञातत्वात्पुनरुक्तयेव वाचा गुरवे निवेद्य = विज्ञाप्य पश्चात्प्रियायै शशंस। कथितस्यैव कथनं पुनरुक्तिः। न चेह तदस्ति। किन्तु चिह्नैः कथितप्रायत्वात्पुनरुक्तयेव स्थितयेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६८ ॥

टीका—निर्मल चन्द्र के समान मुख वाले, राजाओं में श्रेष्ठ दिलीप ने, हर्ष के चिह्नों से अनुमान होने वाले नन्दिनी के वरदान रूपी अनुग्रह को—(हर्ष के चिह्नों से कहने के पहिले विदित हो जाने पर) दुबारा कही हुई की तरह वाणी द्वारा-गुरु से निवेदन कर, रानी से कहा ॥ ६८ ॥

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम्।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः॥६९॥

दण्डान्वयः—अनिन्दितात्मा सद्वत्सलः वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः सः अतितृष्णः (सन्) वत्सहुतावशेषं नन्दिनीस्तन्यं—शुभ्रं मूर्तं यशः इव—पपौ।

अनिन्दितात्मा = अगर्हितस्वभावः। सत्सु वत्सलः प्रेमवान् सद्व-

त्सलः । "वत्सांसाभ्यां कामबले" इति लच्प्रत्ययः । वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः = कृतानुमतिः सः = राजा वत्सस्य हुतस्य चावशेषं पीतहुतावशिष्टं नन्दिन्याः स्तन्यं क्षीरम् । शुभ्रं मूर्तं = परिच्छिन्नं यश इव । अतितृष्णः सन् पपौ ॥ ६९ ॥

टीका—प्रशंसनीय स्वभाव वाले, सज्जनों पर दया करने वाले, वशिष्ठ की आज्ञा पाए हुए राजा दिलीप ने अति तृषित हो बछड़ेके पीने और हवन से बचे हुए नन्दिनी के दूध को-उज्ज्वल मूर्तिमान यश के समान-पिया ॥ ६९ ॥

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः॥७०॥

दण्डान्वयः—प्रातः वशी वसिष्ठः यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य तौ दम्पती स्वां राजधानीं प्रति प्रस्थापयामास ।

वशी वसिष्ठः प्रातः । यथोक्तस्य पूर्वोक्तस्य व्रतस्य गोसेवारूपस्याङ्गभूताया पारणा तस्या अन्ते प्रास्थानिकं = प्रस्थानकाले भवम् । तत्कालोचितमित्यर्थः । "कालाट्ठञ्" इति ठञ्प्रत्ययः । *यथाकथञ्चिद्गुणवृत्त्यापि काले वर्तमानत्वात्तत्प्रत्यय इष्यते * इति वृत्तिकारः । ईयते प्राप्यतेऽनेनेत्ययनं स्वस्त्ययनं = शुभावहमाशीर्वादं प्रयुज्य । तौ दम्पती स्वां राजधानीं = पुरीं प्रति प्रस्थापयामास ॥ ७० ॥

टीका—प्रातःकाल जितेन्द्रिय वशिष्ठ ने विधिपूर्वक (गोसेवा रूपी) व्रत की पारणा करने के अनन्तर, यात्रा कालोचित स्वस्तिवाचन कर, उन दोनों राजा-रानी को उनकी राजधानी की ओर भेजा ॥ ७० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च ।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः॥७१॥

दण्डान्वयः—नृपः हुतं हुताशं च भर्तुः अनन्तरम् अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः (सन्) प्रतस्थे ।

नृपो हुतं=तर्पितम् । हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः । "कर्मण्यण्" । तं भर्तुः=मुनेरनन्तरम् । प्रदक्षिणानन्तरमित्यर्थः । अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुं च प्रदक्षिणीकृत्य । प्रगतो दक्षिणं प्रदक्षिणम् । "तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च" इत्यव्ययीभावः । ततश्चिवः । अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं सम्पद्यमानं कृत्वा प्रदक्षिणीकृत्य । सद्भिर्मङ्गलैः प्रदक्षिणादिभिर्मङ्गलाचारैरुदग्रतरप्रभावः सन् प्रतस्थे ॥ ७१ ॥

टीका—राजा ने प्रज्वलित अग्नि, मुनि (की प्रदक्षिणा) के बाद अरुन्धती और बछड़े सहित नन्दिनी की प्रदक्षिणा करके अच्छे मङ्गलाचारों से प्रवर्द्धित प्रताप वाला होता हुआ प्रस्थान किया॥७१॥

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥७२॥

दण्डान्वयः—धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः सः श्रोत्राभिरामध्वनिना अनुद्घातसुखेन रथेन-स्वेन पूर्णेन मनोरथेन इव—मार्गं ययौ ।

धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः=व्रतादिदुःखसहनशीलः सः=नृपः श्रोत्राभिरामध्वनिना=कर्णाह्लादकरस्वनेनानुद्घातः पाषाणादिप्रतिघातरहितः । अत एव सुखयतीति सुखः, तेन रथेन । स्वेन पूर्णेन=सफलेन मनोरथेनेव । मार्गम्=अध्वानं ययौ । मनोरथपक्षे ध्वनिः श्रुतिः । अनुद्घातः प्रतिबन्धनिवृत्तिः ॥७२॥

टीका—रानी के साथ व्रतादि दुःखोंको सहन करने वाले राजा दिलीप ने कानों को सुख देनेवाले आवाजवाले नीची ऊँची गिट्टी के ठोकर लगने से न गिरनेवाले और सुखद रथ से—अपने सफल मनोरथ के समान—राह पकड़ी ॥ ७२ ॥

१९३५ तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ७३

दण्डान्वयः—प्रजाः अदर्शनेन आहितौत्सुक्यं प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गं नवोदयं तम्-(नवोदयं) औषधीनां नाथम् इव—तृप्तिम् अनाप्नुवद्भिः नेत्रैः पपुः ।

अदर्शनेन = प्रवासनिमित्तेनाऽऽहितौत्सुक्यं = जनितदर्शनोत्कण्ठम् । प्रजार्थेन सन्तानार्थेन व्रतेन नियमेन कर्शितं कृशीकृतमङ्गं यस्य तम् । नवोदयं=नवाभ्युदयं प्रजास्तृप्तिमनाप्नुवद्भिः=अतिगृध्नुभिर्नेत्रैः । ओषधीनां नाथं=सोममिव । तं=राजानं पपुः । अत्यास्थया दद्रुश्रुरित्यर्थः । चन्द्रपक्षे अदर्शनं कलाक्षयनिमित्तम् । प्रजार्थं लोकहितार्थम् । व्रतं देवताभ्यः कलादाननियमः–'तं च सोमं पपुर्देवाः पर्यायेणानुपूर्वशः' इति व्यासः । उदय आविर्भावः । अन्यत्समानम् ॥ ७३ ॥

टीका—प्रजा ने (जुदाई के कारण) न दिखाई पड़ने से [चन्द्रमापक्ष में—कला के क्षय हो जाने के कारण न दिखाई पड़ने से] देखने की उत्सुकता उत्पन्न कर देनेवाले, सन्तान के निमित्त व्रत करने से दुर्बल शरीर वाले [चन्द्रमापक्ष में—लोकहित के निमित्त देवताओं के कलादान रूपी नियम से दुर्बल शरीर वाले] नवीन अभ्युदय वाले [चन्द्रपक्ष में—'नवीन उदय हुए'] राजा दिलीप को—ओषधियों के राजा चन्द्र के समान—तृप्ति को प्राप्त न होनेवाले नयनों से पान किया (देखा) ॥ ७३ ॥

१९११ १९२१ } पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज॥७४॥

दण्डान्वयः—पुरन्दरश्रीः सः पौरैः अभिनन्द्यमानः (सन्) उत्पताकं पुरं प्रविश्य, भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भुजे भूयः भूमेः धुरम् आससञ्ज ।

पुरः पुरीरसुराणां दारयतीति पुरन्दरः शक्रः । "पूःशर्वयोर्दारिसहोः" इति खच्प्रत्ययः । "वाचंयमपुरन्दरौ च" इति सुमागमो निपातितः । तस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य सः=नृपः पौरैरभिनन्द्यमानः । उत्पताकम्=उच्छ्रितध्वजम् । 'पताका वैजयन्ती स्यात्केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः । पुरं प्रविश्य भुजङ्गेन्द्रेण समानसारे तुल्यबले । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः । भुजे भूयो भूमेर्धुरमाससञ्ज=स्थापितवान् ॥ ७४ ॥

टीका—इन्द्र के समान ऐश्वर्यवाले राजा दिलीप ने, नगर निवासियों से सत्कृत किया जाता हुआ, फहराती हुई पताका वाले नगर में प्रवेश कर, सर्पराज (शेषनाग) के समान बल रखनेवाली भुजाओं पर, फिर से पृथ्वी के भार को धारण किया ॥ ७४ ॥

१९३१
१९३६

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥७५॥

दण्डान्वयः—अथ द्यौः अत्रेः नयनसमुत्थं ज्योतिः इव, सुरसरित् वह्निनिष्ठ्यूतम् ऐशं तेजः इव, राज्ञी नरपतिकुलभूत्यै गुरुभिः लोकपालानुभावैः अभिनिविष्टं गर्भम् आधत्त ।

अथ द्यौः=सुरवर्त्म । 'द्यौः स्वर्ग-सुरवर्त्मनोः' इति विश्वः । अत्रेर्महर्षेर्नयनयोः समुत्थमुत्पन्नं नयनसमुत्थम् । "आतश्चोपसर्गे" इति कप्रत्ययः । ज्यौतिरिव । चन्द्रमिवेत्यर्थः । 'ऋक्षेशः स्यादत्रिनेत्रप्रसूतः' इति हलायुधः । चन्द्रस्यात्रिनेत्रोद्भूतत्वमुक्तं हरिवंशे-'नेत्राभ्यां वारि सुस्राव दशधा द्योतयद्दिशः । तद्गर्भविधिना हृष्टा दिशो देव्यो दधुस्तदा ॥ समेत्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन् । स ताभ्यः सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भः प्रभान्वितः ॥ पपात भासयँल्लोकाञ्छीतांशुः सर्वभावनः ॥' इति । सुरसरिद्=गङ्गा वह्निना निष्ठ्यूतं विक्षिप्तम् । "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" इत्यनेन निपूर्वात्ष्ठीवतेर्वकारस्य ऊठ् । "नुन्ननुन्नास्तनिष्ठ्यूतविद्धक्षिप्तेरिताः समाः' इत्यमरः । ऐशं तेजः=स्कन्दमिव । अत्र रामायणम्-'ते गत्वा पर्वतं राम ! कैलासं धातुमण्डितम् । अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥ देवकार्यमिदं देव ! समाधत्स्व हुताशन ! शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज ॥ देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः । गर्भं धारय वै देवि ! देवतानामिदं प्रियम् ॥ इत्येतद्वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत् । स तस्या महिमां दृष्ट्वा समन्ताद-

वकीर्य च ॥ समन्ततस्तु तां देवीमभ्यषिञ्चत पावकः । सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ! ॥' इति । राज्ञी=सुदक्षिणा नरपतेर्दिलीपस्य कुलभूत्यै सन्ततिलक्षणायै गुरुभिः=महद्भिर्लोकपालानामनुभावैस्तेजोभिरभिनिविष्टम्=अनुप्रविष्टं गर्भमाधत्त । दधावित्यर्थः । अत्र मनुः—'अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः' इति । अत्र 'आधत्त' इत्यनेन स्त्रीकर्तृकधारणमात्रमुच्यते । तथा मन्त्रे च दृश्यते—"यथेयं पृथिवी मह्यु त्ताना गर्भमादधे । एवं त्वं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे॥' इत्याश्वलायनानां सीमन्तमन्त्रे स्त्रीव्यापारधारण आधानशब्दप्रयोगदर्शनादिति । मालिनीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति लक्षणात् ॥ ७५ ॥

टीका—तदनन्तर आकाशने जिस प्रकार महर्षि अत्रि के नेत्रों से निकली हुई ज्योति (चन्द्रमा) को, गंगाजी ने जैसे अग्नि से फेंके हुए रुद्र तेज (स्कन्द) को (धारण किया) उसी प्रकार महारानी (सुदक्षिणा) ने राजा दिलीप के वंश की प्रतिष्ठा के हेतु लोकपालों के महान् तेजों से भरे हुए गर्भ को धारण किया ॥ ७५ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीवनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

—०—

तृतीयः सर्गः ।

उपाधिगम्योऽप्यनुपाधिगम्यः समावलोक्योऽप्यसमावलोक्यः ।
भवोऽपि योऽभूदभवः शिवोऽयं जगत्यपायादपि नः स पायात्॥

'राज्ञी गर्भमाधत्त' (२।७५) इत्युक्तम् । सम्प्रति गर्भलक्षणानि वर्णयितुं प्रस्तौति—

अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् ।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ॥१

दण्डान्वयः—अथ सुदक्षिणा उपस्थितोदयम् भर्तुः ईप्सितं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः निदानं दौर्हृदलक्षणं दधौ।

अथ=गर्भधारणानन्तरं सुदक्षिणा। उपस्थितोदयं=प्राप्तकालं भर्तुः=दिलीपस्येप्सितं=मनोरथम्। भावे क्तः। पुनः सखीजनस्योद्वीक्षणानां दृष्टीनां कौमुदीमुखं चन्द्रिकाप्रादुर्भावम्। यद्वा कौमुदी नाम दीपोत्सवतिथिः। तदुक्तं भविष्योत्तरे—'कौ मोदन्ते जना यस्यां तेनासौ कौमुदी मता' इति। तस्या मुखं प्रारम्भम्। 'सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमहम्' इति पाठं केचित्पठन्ति। इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः=अविच्छेदस्य निदानं=मूलकारणम्। 'निदानं त्वादिकारणम्' इत्यमरः। एवंविधं दौर्हृदलक्षणं=गर्भचिह्नं वक्ष्यमाणं दधौ। स्वहृदयेन गर्भहृदयेन च द्विहृदया गर्भिणी। यथाह वाग्भटः—'मातृजन्यस्य हृदयं मातुश्च हृदयं च यत्। सम्बद्धं तेन गर्भिण्याः श्रेष्ठं श्रद्धाभिमाननम्॥ इति तत्सम्बन्धित्वादगर्भो दौर्हृदमित्युच्यते। सा च तद्योगाद्दौर्हृदिनीति। तदुक्तं संग्रहे-'द्विहृदयां नारीं दौर्हृदिनीमाचक्षते' इति। अत्र दौर्हृदलक्षणस्येप्सितत्वेन कौमुदीमुखत्वेन च निरूपणाद्रूपकालङ्कारः। अस्मिन्सर्गे वंशस्थं वृत्तम्—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात्॥ १॥

टीका--गर्भ धारण करने के बाद सुदक्षिणा ने उपस्थित समय वाले, पति के अभिलषित, सहेलियों की आँखों को प्रसन्न करने वाली चाँदनी के प्रादुर्भाव स्वरूप और इक्ष्वाकुवंश की सन्तति के मूल कारण गर्भचिह्न को धारण किया॥ १॥

सम्प्रति क्षामताख्यं गर्भलक्षणं वर्णयति—

शरीरसादाद्दसमग्रभूषणा मुखेन सा लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥२॥

दण्डान्वयः—शरीरसादात् असमग्रभूषणा लोध्रपाण्डुना मुखेन सा-विचेतारका तनुप्रकाशेन शशिना प्रभातकल्पा शर्वरी इव—अलक्ष्यत।

शरीरस्य सादात्कार्श्यादसमग्रभूषणा=परिमिताभरणा लोध्रपुष्पेणेव

पाण्डुना मुखेनोपलक्षिता सा = सुदक्षिणा । विचेया मृग्यास्तारका यस्यां सा तथोक्ता । विरलनक्षत्रेत्यर्थः । तनुप्रकाशेन = अल्पकान्तिना शशिनोपलक्षितेपदसमासप्रभाता प्रभातकल्पा । प्रभातादीपद्यूनेत्यर्थः । "तसिलादिष्वाकृत्वसुचः" इति प्रभातशब्दस्य पुंवद्भावः । शर्वरी = रात्रिरिव । अलक्ष्यत । शरीरसादादिगर्भलक्षणमाह वाग्भटः—क्षामता गरिमा कुक्षेर्मूर्च्छा छर्दिररोचकम्। जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम्' ॥इति॥

टीका—शरीर के दुबलापन से थोड़ा सा गहना पहिरनेवाली, लोध्र के फूल की तरह पीला रंगवाले मुँह से वह—इनी गिनी ताराओं वाली अल्पकान्ति वाले चन्द्रमा से युक्त प्रभातकालिका रात्रि (ज़रा-ज़रा पौं फटने का समय) की तरह—देखी गयी ॥२॥

तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम्॥३॥

दण्डान्वयः—क्षितीश्वरः रहसि मृत्सुरभि तदाननम् उपाघ्राय-शुचिव्यपाये पयोमुचां पृषतैः सिक्तं वनराजिपल्वलं करी इव तृप्तिम् न आययौ ।

क्षितीश्वरो रहसि मृत्सुरभि=मृदा सुगन्धि तस्या आननं तदाननं = सुदक्षिणामुखमुपाघ्राय तृप्तिं नाययौ । कः कमिव ? शुचिव्यपाये=ग्रीष्मावसाने । 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गारापाढयोः सिते । ग्रीष्मे द्रुतवहेऽपि स्यादुपधाशुद्धमन्त्रिणि' इति विश्वः । पयोमुचां = मेघानां पृषतैः = बिन्दुभिः । 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः' इत्यमरः । सिक्तम् = उक्षितं वनराज्याः पल्वलमुपाघ्राय करी = गज इव । अत्र करिवनराजिपल्वलानां कान्तकामिवदनसमाधिरनुसन्धेयः । गर्भिणीनां मृद्भक्षणं लोकप्रसिद्धमेव । एतेन दोहदाख्यं गर्भलक्षणमुच्यते ॥ ३ ॥

टीका—राजा एकान्त में मिट्टी की सुगन्धिवाले रानी के मुँह को सूँघकर—ग्रीष्म के अन्त में मेघों की बूंदों से सिंची हुई जङ्गल की तलैयों को 'सूँघकर' हाथी के समान—तृप्त न हुआ ॥३॥

दोहदलक्षणे मृद्भक्षणे हेत्वन्तरमुत्प्रेक्षते—

दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथा हि तत्सुतः।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलंघ्य सा ॥

दण्डान्वयः—हि दिगन्तविश्रान्तरथः तत्सुतः दिवं मरुत्वान् इव भुवं भोक्ष्यते, अतः सा अन्यरसान् विलंघ्य प्रथमं तथाविधे अभिलाषे मनः बबन्ध।

हि = यस्माद्दिगन्तविश्रान्तरथः = चक्रवर्ती तस्याः सुतस्तत्सुतः। मरुत्वान् = इन्द्रः। 'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा' इत्यमरः। दिवं = स्वर्गमिव। भुवं भोक्ष्यते। "भुजोऽनवने" इत्यात्मनेपदम्। अतः प्रथमं सा=सुदक्षिणा तथाविधे = भूविकारे मृद्रूपे। अभिलष्यत इत्यभिलाषो भोग्यवस्तु तस्मिन्। कर्मणि घञ्प्रत्ययः। रस्यन्ते स्वाद्यन्त इति रसा भोग्यार्थाः। अन्ये च ते रसाश्च तान्विलङ्घ्य = विहाय मनो बबन्ध। विदधावित्यर्थः। दोहदहेतुकस्य मृद्भक्षणस्य पुत्रभूभोगसूचनार्थत्वमुत्प्रेक्षते ॥ ४ ॥

टीका—दिशाओं की अन्तिम सीमा पर रथ को ठहरानेवाला (चक्रवर्ती) रानी का पुत्र, स्वर्ग लोक को जैसे इन्द्र भोगता है उसी तरह, पृथ्वी को भोगेगा इसीलिये उसने अन्य रसों को छोड़ कर पहले मिट्टी खाने की अभिलाषा में मन लगाया ॥ ४ ॥

न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः ॥५॥

दण्डान्वयः—'मागधी ह्रिया किञ्चित् ईप्सितं मे न शंसति, केषु वस्तुषु स्पृहावती, इति अनुवेलम् आदृतः उत्तरकोसलेश्वरः प्रियासखीः पृच्छति स्म।

मगधस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री मागधी = सुदक्षिणा। "द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्" इत्यणप्रत्ययः। ह्रिया किञ्चित् = किमपि ईप्सितम् = इष्टं मे = मह्यं न शंसति = नाचष्टे। केषु वस्तुषु स्पृहावतीत्यनुवेलम् = अनुक्षणमादृतः = आदृतवान्। कर्तरि क्तः। 'आदृतौ सादराचितौ' इत्यमरः। प्रियायाः सखीः सहचरीरुत्तरकोसलेश्वरः = दिलीपः पृच्छति स्म = पप्रच्छ। "लट् स्मे" इत्यनेन भूतार्थे लट्। सखीनां विश्रम्भभूमित्वादिति भावः ॥ ५ ॥

टीका--'मगधेश्वर कन्या (सुलक्षणा) लज्जा से कुछ अभीष्ट (मनचाही) मुझसे नहीं कहती कि वह किन वस्तुओं में अभिलाषा-वाली है' इस विचार से हर घड़ी आदरपूर्वक उत्तर कोशल के राजा (दिलीप) रानी की सहेलियों से पूछा करते ॥ ५ ॥

उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम् ।
न ह्येष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः ॥६॥

दण्डान्वयः—सा दोहददुःखशीलताम् उपेत्य यत् वव्रे तत् (भर्त्रा) आहृतम् एव अपश्यत् । हि अस्य अधिज्यधन्वनः भूपतेः त्रिदिवे अपि इष्टम् अनासाद्यम् न अभूत् ।

दोहदं गर्भिणीमनोरथः । 'दोहदं दौर्हृदं श्रद्धा लालसं च समं स्मृतम्' इति हलायुधः । सा = सुदक्षिणा दोहदेन गर्भिणीमनोरथेन दुःख-शीलतां दुःखस्वभावतामुपेत्य = प्राप्य यद् = वस्तु वव्रे = आचकाङ्क्ष तदाहृतम्=आनीतम् । भर्त्रेति शेषः । अपश्यदेव । अलभतेत्यर्थः । कुतः । हि = यस्मादस्य भूपतेस्त्रिदिवेऽपि = स्वर्गेऽपीष्टं वस्त्वनासाद्यम्=अनवाप्यं नाभूत् । किं याच्ञया । नेत्याह—अधिज्यधन्वन इति । न हि वीरपत्नीना-मलभ्यं नाम किञ्चिदस्तीति भावः । अत्र वाग्भटः—'पादशोफो विदाहोऽन्ते श्रद्धा च विविधात्मिका' इति । एतच्च पत्नीमनोरथपूरणाकरणे दृष्टदोषस-म्भवात् । न तु राज्ञः प्रीतिलौल्यात् । तदुक्तम्—'देयमप्यहितं तस्यै हिताय हितमल्पकम् । श्रद्धाविघाते गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा ।' अन्यत्र च—'दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्' इति ॥ ६ ॥

टीका--वह गर्भिणी की अभिलाषावाले दुःख को पाकर जो कहती उसे (पति से) लाया हुआ देखती । क्योंकि चढ़ी हुई प्रत्य-ञ्चावाले धनुष को धारण करनेवाले इस राजा को स्वर्ग में भी होनेवाली अभिलषित वस्तु दुर्लभ न थी ॥ ६ ॥

क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा ।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ ७ ॥

दण्डान्वयः—च सा क्रमेण दोहदव्यथां निस्तीर्य प्रचीयमानावयवा (सती) —पुराणपत्रापगमात् अनन्तरं सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा लता इव—रराज।

सा=सुदक्षिणा क्रमेण दोहदव्यथां च निस्तीर्य प्रचीयमानावयवा= पुष्यमाणावयवा सती। पुराणपत्राणामपगमान्नाशादनन्तरं सन्नद्धाः सञ्जाताः प्रत्यग्रत्वान्मनोज्ञाः पल्लवा यस्याः सा लतेव रराज ॥७॥

टीका—और वह क्रम से गर्भव्यथा को बिताकर पुष्ट अङ्गों वाली हो—पुराने पत्तों के गिर जाने के बाद नवीन पत्तों से सुन्दर लता की तरह—सुशोभित हुई ॥ ७ ॥

लक्षणान्तरं वर्णयति—

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम्॥

दण्डान्वयः—दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरम् आनीलमुखं तदीयं स्तनद्वयं भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियं तिरश्चकार।

दिनेषु=दोहददिवसेषु गच्छत्सु सत्सु नितान्तपीवरम्=अतिस्थूलम्। आसमन्तान्नीले मुखे चूचुके यस्य तत्। तदीयं स्तनद्वयम्। भ्रमरैरभिलीनयोरभिव्याप्तयोः सुजातयोः=सुन्दरयोः पङ्कजकोशयोः=पद्ममुकुलयोः श्रियं तिरश्चकार। अत्र वाग्भटः—"अश्लेष्टता स्तनौ पीनौ श्वेतान्तौ कृष्णचूचुकौ" इति ॥ ८ ॥

टीका—कुछ दिन बीतने पर अति स्थूल और नीले मुखवाले उसके दोनों स्तनों ने, भौंरों से व्याप्त सुन्दर कमल के मुकुलों (कलियों) की कान्ति का, तिरस्कार कर दिया ॥ ८ ॥

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत॥९॥

दण्डान्वयः—नृपः ससत्त्वां महिषीं निधानगर्भां सागराम्बराम् इव, अभ्यन्तरलीनपावकां शमीम् इव, अन्तःसलिलां सरस्वतीं नदीम् इव अमन्यत।

नृपः ससत्त्वाम्=आपन्नसत्त्वाम्। गर्भिणीमित्यर्थः। 'आपन्नसत्त्वा

स्यादुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः। महिषीम्। निधानं निधिर्गर्भे यस्यास्तां सागराम्बरां = समुद्रवसनाम्। भूमिमिवेत्यर्थः। 'भूतधात्री रत्नगर्भा विपुला सागराम्बरा' इति कोशः। अभ्यन्तरे लीनः पावको यस्यास्तां शमीमिव। शमीतरौ वह्निरस्तीत्यत्र लिङ्गं 'शमीगर्भादग्निं जनयतीति'। अन्तःसलिलाम् = अन्तर्गतजलां सरस्वतीं नदीमिव। अमन्यत। एतेन गर्भस्थ भाग्यवत्त्वतेजस्वित्वपावनत्वानि विवक्षितानि ॥ ९ ॥

टीका--राजा ने गर्भवती महारानी को, गर्भमें रत्न रखनेवाली पृथ्वी के समान, भीतर अग्नि रखनेवाली छोकर के समान, भीतर जल रखनेवाली सरस्वती नदी के समान, माना ॥ ९ ॥

प्रियानुरागस्य मनःसमुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसम्पदाम्।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्तसः १०

दण्डान्वयः—धीरः सः प्रियानुरागस्य, च मनःसमुन्नतेः च भुजार्जितानां दिगन्तसम्पदां धृतेः सदृशीः पुंसवनादिकाः क्रियाः यथाक्रमं व्यधत्त।

धीरः सः = राजा प्रियायामनुरागस्य स्नेहस्य। मनसः समुन्नतेरौदार्यस्य। भुजेन भुजबलेन करेण वाऽर्जितानाम्। न तु वाणिज्यादिना। दिगन्तेषु सम्पदाम्। धृतेः=पुत्रो मे भविष्यतीति सन्तोषस्य च। 'धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः। सदृशीः = अनुरूपाः। पुमान्सूयतेऽनेनेति पुंसवनम्। तदादिर्यासां ताः क्रिया यथाक्रमं = क्रममनतिक्रम्य व्यधत्त = कृतवान्। आदिशब्देनानवलोभनसीमन्तोन्नयने गृह्येते। अत्र मासि द्वितीये तृतीये वा पुंसवनम्। यदाह–'पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्' इति पारस्करः। 'चतुर्थेऽनवलोभनम्' इत्याश्वलायनः। 'षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तोन्नयनम्' इति याज्ञवल्क्यः ॥ १० ॥

टीका—उस धैर्यशाली राजा ने प्यारी के प्रेम के अनुसार, मन की उदारता के अनुसार, अपने बाहुबल से उपार्जित दिगन्तव्याप्त ऐश्वर्य के अनुसार, और भावी पुत्र के उत्पन्न होने के सन्तोष के अनुसार पुंसवनादि संस्कारों को क्रमानुसार किया ॥ १० ॥

सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥११॥

दण्डान्वयः—गृहागतः नृपः सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात् प्रयत्नमुक्तासनया उपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया तया ननन्द।

गृहागतो नृपः सुरेन्द्राणां लोकपालानां मात्राभिरंशैराश्रितस्यानुप्रविष्टस्य गर्भस्य गौरवाद्भारात्प्रयत्नेन मुक्तासनया। आसनादुत्थितयेत्यर्थः। उपचारस्याञ्जलावञ्जलिकरणे खिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया=तरलाक्ष्या। 'चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमरः। तया=सुदक्षिणया ननन्द। 'सुरेन्द्रमात्राश्रित—' इत्यत्र मनुः—'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः' इति ॥ ११ ॥

टीका—महल में आए हुए दिलीप लोकपालों के अंशों को धारण किए हुए गर्भ के भार से यत्न पूर्वक आसन छोड़ती हुई, प्रणाम करने के लिए अञ्जलि बाँधने में शिथिल हाथवाली और चञ्चलनेत्रवाली रानी से प्रसन्न होते ॥ ११ ॥

कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव १२

दण्डान्वयः—अथ कुमारभृत्याकुशलैः आप्तैः भिषग्भिः गर्भभर्मणि अनुष्ठिते (सति) पतिः प्रतीतः काले प्रसवोन्मुखीं प्रियाम्-अभ्रितां दिवम् इव-ददर्श।

अथ। कुमारभृत्या बालचिकित्सा। "संज्ञायां समजनिषद०" इत्यादिना क्यप्। तस्यां कुशलैः कृतिभिः। 'कृती कुशल इत्यपि' इत्यमरः। आप्तैः=हितैर्भिषग्भिः=वैद्यैः। 'भिषग्वैद्यौ चिकित्सके' इत्यमरः। गर्भस्य भर्मणि भरणे। 'भरणे पोषणे भर्म' इति हैमः। 'भृतिर्भर्म' इति शाश्वतः। भृञो मनिच्प्रत्ययः। 'गर्भकर्मणि' इति पाठे गर्भाधानप्रतीतावौचित्यभङ्गः। अनुष्ठिते=कृते सति। काले=दशमे मासि। अन्यत्र ग्रीष्मावसाने। प्रसवस्य गर्भमोचनस्योन्मुखीम्। आसन्नप्रसवामित्यर्थः। 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमरः। प्रियां=भार्याम्।

अभ्राण्यस्याः सञ्जातान्यभ्रिता ताम्। "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" इतीतच्प्रत्ययः। दिवमिव। पतिः = भर्ता प्रतीतः = हृष्टः सन्। 'ख्याते हृष्टे प्रतीतः' इत्यमरः। ददर्श = दृष्टवान् ॥ १२ ॥

टीका—तब बालचिकित्सा में कुशल, विश्वासपात्र वैद्यों से गर्भ की पुष्टि की जाने पर राजा ने प्रसन्न हो जननकाल [(१) दसवाँ महीना (२) वर्षा के आरम्भ काल] में शीघ्र पुत्र को जननेवाली रानी को—तत्काल बरसनेवाले मेघों से व्याप्त आकाश की भाँति—देखा ॥ १२ ॥

१ ९ २ १ / १ ९ २ ६ / १ ९ २ ८ { अहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम्
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम्

दण्डान्वयः—ततः समये शचीसमा (सा) उच्चसंश्रयैः असूर्यगैः पञ्चभिः अहैः सूचितभाग्यसम्पदं पुत्रं–त्रिसाधना शक्तिः अक्षयम् अर्थम् इव–असूत।

ततः शच्येन्द्राण्या समा। 'पुलोमजा शचीन्द्राणी' इत्यमरः। सा सुदक्षिणा समये = प्रसूतिकाले सति। दशमे मासीत्यर्थः। "दशमे मासि जायते" इति श्रुतेः। उच्चसंश्रयैः = उच्चसंस्थैस्तुङ्गस्थानगैरसूर्यगैः = अनस्तमितैः। कैश्चिद्यथासम्भवं पञ्चभिर्ग्रहैः सूचिता भाग्यसम्पद्यस्य तं पुत्रम्। त्रीणि प्रभावमन्त्रोत्साहात्मकानि साधनान्युत्पादकानि यस्याः सा त्रिसाधना शक्तिः। 'शक्तयस्तिस्त्रः, प्रभावोत्साहमन्त्रजाः' इत्यमरः। अक्षयमर्थमिव। असूत। 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इत्यात्मनेपदिषु पठ्यते। तस्माद्धातोः कर्तरि लङ्। अत्रेदमनुसन्धेयम्—'अजवृषभमृगाङ्गनाकुलीरा झषवणिजौ च दिवाकरादितुङ्गाः। दशशिखिमनुयुक्तियोन्द्रियांशैस्त्रिनवकविंशतिभिश्च तेऽस्तनीचाः॥' इति। सूर्यादीनां सप्तानां ग्रहाणां मेषवृषभादयो राशयः श्लोकोक्तक्रमविशिष्टा उच्चस्थानानि। स्वस्वतुङ्गापेक्षया सप्तमस्थानानि च नीचानि। तत्रोच्चेष्वपि दशमादयो राशित्रिंशांशा यथाक्रममुच्चेषु परमोच्चा नीचेषु परमनीचा इति जातकश्लोकार्थः। अत्रांशस्त्रिंशो भागः। यथाह नारदः—'त्रिंशद्भागात्मकं लग्नम्' इति। सूर्य-

प्रत्यासत्तिर्ग्रहाणामस्तमयो नाम। तदुक्तं लघुजातके—'रविणाऽस्तमयो योगो वियोगस्तूदयो भवेत्' इति। ते च स्वोच्चस्थाः फलन्ति नास्तगा नापि नीचगाः। तदुक्तं राजमृगाङ्के—'स्वोच्चे पूर्णं स्वर्क्षकेऽर्धं सुहृद्भे पादं द्विड्भेऽल्पं शुभं खेचरेन्द्रः। नीचस्थायी नास्तगो वा न किञ्चित्पादं तूनं स्वत्रिकोणे ददाति॥' इति। तदिदमाह कविरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैरिति च। एवं सति यस्य जन्मकाले पञ्चप्रभृतयो ग्रहाः स्वोच्चस्थाः स एव तुङ्गो भवति। तदुक्तं कूटस्थीये—'सुखिनः प्रकृष्टकार्या राजप्रतिरूपकाश्च राजानः। एकद्वित्रिचतुर्भिर्जायन्तेऽतः परं दिव्याः॥' इति। तदिदमाह-पञ्चभिरिति॥ १३॥

टीका—तदन्तर दसवे महीने इन्द्राणीके समान रानी सुदक्षिणाने उच्च स्थानमें स्थित, सूर्यकी समीपतासे अस्त न हुए पाँच ग्रहोंसे सूचित भाग्यसम्पत्तिवाले पुत्रको—प्रभाव, उत्साह, मन्त्रसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिने जैसे चिरकाल तक रहनेवाली सम्पत्तिको—उत्पन्न किया॥ १३॥

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्॥

दण्डान्वयः—तत्क्षणं दिशः प्रसेदुः, सुखाः मरुतः ववुः, अग्निः प्रदक्षिणार्चिः (सन्) हविः आददे। (इत्थम्) सर्वं शुभशंसि बभूव। हि तादृशां भवः लोकाभ्युदयाय (भवति)।

तत्क्षणं = तस्मिन्क्षणे। "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया। दिशः प्रसेदुः = प्रसन्ना बभूवुः। मरुतः = वाताः सुखाः = मनोहरा ववुः। अग्निः प्रदक्षिणार्चिः सन् हविरादत्ते = स्वीचकार। इत्थं सर्वं शुभशंसि = शुभसूचकं बभूव। तथाहि। तादृशां = रघुप्रकाराणां भवः = जन्म लोकाभ्युदयाय। भवतीति शेषः। ततो देवा अपि सन्तुष्टा इत्यर्थः॥ १४॥

टीका—उस समय दिशाएँ निर्मल हो गयीं, सुखदायक हवा बहने लगी, अग्नि प्रदक्षिण ज्वालासे हवि लेने लगा। (इस तरह)

सब मंगलसूचक हुए। क्योंकि ऐसोंका जन्म संसारके कल्याणार्थ होता है ॥ १४ ॥

अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥१५॥

दण्डान्वयः—अरिष्टशय्यां परितः विसारिणा सुजन्मनः तस्य निजेन तेजसा सहसा हतत्विषः निशीथदीपाः आलेख्यसमर्पिताः इव बभूवुः।

'अरिष्टं सूतिकागृहम्' इत्यमरः। अरिष्टे सूतिकागृहे शय्यां तल्पं परितः = अभितः। *अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेषु द्रश्यते* इति द्वितीया। विसारिणा। सुजन्मनः = शोभनोत्पत्तेः। 'अनुर्जनन-जन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः। तस्य = शिशोर्निजेन = नैसर्गिकेण तेजसा सहसा हतत्विषः = क्षीणकान्तयो निशीथदीपाः = अर्धरात्रप्रदीपाः। 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः। आलेख्यसमर्पिताः = चित्रार्पिता इव बभूवुः। निशीथशब्दो दीपानां प्रभाधिक्यसम्भावनार्थः ॥ १५ ॥

टीका-सौरीके खाटके चारो ओर फैलनेवाले, सुन्दरजन्म लेनेवाले उस (बालक) के स्वाभाविक तेजसे एकाएक मन्दकान्तिवाले आधीरात के दीपक चित्रमें लिखे हुएके समान हो गये ॥ १५ ॥

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम्
अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे१६

दण्डान्वयः—भूपतेः अमृतसम्मिताक्षरं कुमारजन्म शंसते शुद्धान्तचराय जनाय शशिप्रभं छत्रम् च उभे चामरे (एतत्) त्रयम् एव अदेयम् आसीत्।

भूपतेः = दिलीपस्यामृतसम्मिताक्षरम् = अमृतसमानाक्षरम्। 'सरूपसमसम्मिताः' इत्याह दण्डी। कुमारजन्म = पुत्रोत्पत्तिं शंसते = कथयते शुद्धान्तचराय = अन्तःपुरचारिणे जनाय त्रयमेवादेयमासीत्। किं तत्? शशिप्रभम् = उज्ज्वलं छत्रम्। उभे चामरे च। छत्रादीनां राज्ञः प्रधानाङ्गत्वादिति भावः ॥ १६ ॥

टीका—राजाके—अमृतके समान अक्षर 'राजकुमारका जन्म

हुआ' ऐसा कहनेवाले रनिवासमें आने जानेवाले परिचारकोंके लिए, चन्द्र समान प्रभावाले छत्र और दो चामर—(ये) तीन ही न देने योग्य थे ॥ १६ ॥

१६३५ { निवातपद्मस्तिमितेनचक्षुषानृपस्यकान्तंपिबतःसुताननम्
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनादुगुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि १७

दण्डान्वयः—निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा कान्तं सुताननं पिबतः नृपस्य गुरुः प्रहर्षः इन्दुदर्शनात् महोदधेः पूरः इव-आत्मनि न प्रबभूव ।

निवातो निर्वातप्रदेशः । 'निवातावाश्रयावातौ' इत्यमरः । तत्र यत्पद्मं तद्वत्स्तिमितेन निष्पन्देन चक्षुषा = नेत्रेण कान्तं = सुन्दरं सुताननं = पुत्रमुखं पिबतः = तृष्णया पश्यतो नृपस्य गुरुः = उत्कटः प्रहर्षः कर्ता इन्दुदर्शनादुगुरुर्महोदधेः पूरः = जलौघ इव आत्मनि = शरीरे न प्रबभूव = स्थातुं न शशाक । अन्तर्न माति स्मेति यावत् । न ह्यल्पाधारेऽधिकं मीयत इति भावः । यद्वा हर्ष आत्मनि स्वस्मिन्विषये न प्रबभूव । आत्मानं नियन्तुं न शशाक । किन्तु बहिर्निर्जगामेत्यर्थः ॥ १७ ॥

टीका-वायुरहित प्रदेशमें स्थित कमलके समान एकटक नज़रसे सुन्दर पुत्र-मुखको पान करते हुए राजाका महान हर्ष-चन्द्रके दर्शनसे समुद्रके ज्वारके समान-उसके शरीरमें न समा सका ॥ १७ ॥

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥१८॥

दण्डान्वयः—स दिलीपसूनुः तपस्विना पुरोधसा तपोवनात् एत्य अखिले जातकर्मणि कृते (सति)-आकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कारः मणिः इव-अधिकं बभौ ।

स दिलीपसूनुः । तपस्विना पुरोधसा = पुरोहितेन । 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः । वसिष्ठेन तपस्वित्वात्तदनुष्ठितं कर्म सवीर्यं स्यादिति भावः । तपोवनादेत्य = आगत्य । अखिले = समग्रे जातकर्मणि = जातस्य कर्तव्यसंस्कारविशेषे कृते सति । प्रयुक्तः संस्कारः शाणोल्लेखनादिर्यस्य स तथोक्तः । आकरोद्भवः = खनिप्रभवः । 'खनिः स्त्रियामाकरः

स्यात्' इत्यमरः । मणिरिव । अधिकं बभौ । वशिष्ठमन्त्रप्रभावात्तेजिष्ठोऽभूदित्यर्थः । अत्र मनुः—प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते' इति ॥ १८ ॥

टीका—वह दिलीप का पुत्र तपस्वी, पुरोहित (वशिष्ठ) द्वारा तपोवन से आकर सब जातकर्म संस्कार के किए जाने पर—खान से निकले, सान पर चढ़ा कर 'पालिस' किए गए मणि के समान—अधिक शोभित हुआ ॥ १८ ॥

सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि॥१९॥

दण्डान्वयः—सुखश्रवाः मङ्गलतूर्यनिस्वनाः वारयोषितां प्रमोदनृत्यैः सह मागधीपतेः सद्मनि केवलं न व्यजृम्भन्त, किन्तु दिवौकसां पथि अपि (व्यजृम्भन्त) ।

सुखः सुखकरः श्रवः श्रवणं येषां ते सुखश्रवाः । श्रुतिसुखा इत्यर्थः । मङ्गलतूर्यनिस्वनाः = मङ्गलवाद्यध्वनयो वारयोषितां = वेश्यानाम् । 'वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवा' इत्यमरः । प्रमोदनृत्यैः = हर्षनर्तनैः सह मागधीपतेः = दिलीपस्य सद्मनि केवलं = गृह एव न व्यजृम्भन्त । किन्तु द्यौरोको येषां ते दिवौकसो देवाः । पृषोदरादित्वात्साधुः । तेषां पथि=आकाशेऽपि व्यजृम्भन्त । तस्य देवांशत्वाद्देवोपकारित्वाच्च देवदुन्दुभयोऽपि नेदुरिति भावः ॥ १९ ॥

टीका—कर्णसुखद, मङ्गलवाद्यों (तुरही, शहनाई) की आवाज़ वेश्याओं के आनन्द-नाचों के साथ सुदक्षिणा के पति दिलीप के राजमहल में ही नहीं, परन्तु देवताओं के मार्ग (आकाश) में भी, उमड़ रही थी ॥ १९ ॥

१९२१न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः ।
१९२०ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बंधनात्

दण्डान्वयः—रक्षितुः तस्य संयतः न बभूव, सुतजन्महर्षितः (सन्)

यं विसर्जयेत्। (किन्तु) तदा सः पितॄणाम् ऋणाभिधानात् बन्धनात् केवलम् स्वयम् एव मुमुचे।

रक्षितुः = सम्यक्पालनशीलस्य तस्य = दिलीपस्य। अत एव चौराद्यभावात्। संयतः = बद्धो न बभूव = नाभूत्। किं तेनात आह—विसर्जयेति। सुतजन्मना हर्षितस्तोषितः सन्। यं = बद्धं विसर्जयेद् = विमोचयेत्। किन्तु सः = राजा तदा पितॄणामृणाभिधानाद्बन्धनात्केवलम् = एकं यथा तथा। स्वयमेव। एक एवेत्यर्थः। 'केवलः कृत्स्न एकश्च केवलश्चावधीरितः' इति शाश्वतः। मुमुचे। कर्मकर्तरि लिट्। स्वयमेव मुक्त इत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे—'एष वा अनृणो यः पुत्री' इति श्रुतिः प्रमाणम्॥ २०॥

टीका—उस रक्षक का कोई कैदी न था, जिसे पुत्रजन्म (के उपलक्ष्य) में प्रसन्न हो छोड़ता। (किन्तु) ऐसी अवस्था में वह पितरों के ऋणरूपी बन्धन से अकेले स्वयं मुक्त हुए॥ २०॥

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थवित्स चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्॥२१॥

दण्डान्वयः—अर्थवित् पार्थिवः अयम् अर्भकः श्रुतस्य तथा च युधि परेषां अन्तं यायात् इति धातोः गमनार्थम् अवेक्ष्य आत्मसम्भवं नाम्ना रघुं चकार।

अर्थवित् = शब्दार्थज्ञः पार्थिवः = पृथिवीश्वरो दिलीपः। अयमर्भकः = बालकः श्रुतस्य = शास्त्रस्यान्तं = पारं यायात्। तथा युधि परेषां = शत्रूणामन्तं पारं च यायात्। यातुं शक्नुयादित्यर्थः। "शकि लिङ् च" इति शक्यार्थे लिङ्। इति हेतोर्धातोः 'अधिवधिलधि गत्यर्थाः' इति लधिधातोर्गमनाख्यमर्थमर्थवित्त्वादवेक्ष्य = आलोच्य। आत्मसम्भवं = पुत्रं नाम्ना रघुं चकार। "लङ्क्विवंह्योर्नलोपश्च" इत्युप्रत्यये 'वालमूलल्घलमङ्गुलीनां वा लो रत्वमापद्यते' इति वैकल्पिके रेफादेशे रघुरिति रूपं सिद्धम्। अत्र शङ्का:—'आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते इति॥२१॥

टीका—शब्दार्थ को जाननेवाले दिलीप ने 'यह बालक शास्त्र

को पार करेगा (शास्त्र-पारङ्गत होगा) और युद्ध में शत्रुओं का अन्त करेगा' इस प्रकार लघि धातु को गमनार्थक जान कर अपने पुत्र का 'रघु' नाम रक्खा ॥ २१ ॥

पितुः प्रयत्नात्स समग्रसम्पदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥२२॥

दण्डान्वयः—सः समग्रसम्पदः पितुः प्रयत्नात् शुभैः शरीरावयवैः—हरिदश्वदीधितेः अनुप्रवेशात् बालचन्द्रमाः इव दिने दिने वृद्धिं पुपोष ।

सः = रघुः समग्रसम्पदः = पूर्णलक्ष्मीकस्य पितुः = दिलीपस्य प्रयत्नाच्छुभैः = मनोहरैः शरीरावयवैः हरिदश्वदीधितेः = सूर्यस्य रश्मेः । "भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः" इत्यमरः । अनुप्रवेशाद्बालचन्द्रमा इव । दिने दिने = प्रतिदिनम् । "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्वचनम् । वृद्धिं पुपोष । अत्र वराहसंहितावचनम्—'सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम् । क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः ॥' इति ॥ २२ ॥

टीका—बालक पूर्ण लक्ष्मीवाले पिता के प्रयत्न से सुन्दर अङ्गों द्वारा-सूर्य की किरणों के भीतर प्रवेश करने से बालचन्द्रमा की तरह-दिन पर दिन वृद्धि को प्राप्त करने लगा ॥ २२ ॥

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥२३॥

दण्डान्वयः—यथा उमावृषाङ्कौ शरजन्मना, यथा शचीपुरन्दरौ जयन्तेन, तथा तत्समौ नृपः च सा मागधी तत्सदृशेन सुतेन ननन्दतुः ।

उमावृषाङ्कौ = पार्वतीवृषभध्वजौ शरजन्मना = कार्तिकेयेन । 'कार्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः' इत्यमरः । यथा ननन्दतुः । शचीपुरन्दरौ जयन्तेन = जयन्ताख्येन सुतेन । 'जयन्तः पाकशासनिः" इत्यमरः । यथा ननन्दतुः । तथा तत्समौ = ताभ्यामुमावृषाङ्काभ्यां शचीपुरन्दराभ्यां च समौ समानौ सा मागधी नृपश्च तत्सदृशेन = ताभ्यां

कुमारजयन्ताभ्यां सदृशेन सुतेन ननन्दतुः । मागधी प्राग्व्याख्याता ॥२३॥

टीका—जिस प्रकार पार्वती और शिवजी कार्तिकेय से, जिस प्रकार इन्द्राणी और इन्द्र जयन्त से (प्रसन्न हुए) उसी प्रकार उन (पार्वती-शिव, इन्द्राणी-इन्द्र) के समान मगधवंशोद्भवा रानी और राजा उन (कार्तिकेय-जयन्त) के समान पुत्र (रघु) से प्रसन्न हुए ॥ २३ ॥

रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् ।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥२४॥

दण्डान्वयः—रथाङ्गनाम्नोः इव तयोः भावबन्धनं परस्पराश्रयं यत् प्रेम बभूव, तत् एकसुतेन विभक्तम् अपि परस्परस्य उपरि पर्यचीयत ।

रथाङ्गनाम्नी च रथाङ्गनामा च रथाङ्गनामानौ चक्रवाकौ । "पुमान्स्त्रिया" इत्येकशेषः । तयोरिव तयोः = दम्पत्योर्भावबन्धनं = हृदयाकर्षकं परस्पराश्रयम् = अन्योन्यविषयं यत्प्रेम बभूव तदेकेन केवलेन ताभ्यामन्येन वा । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । सुतेन विभक्तमपि = कृतविभागमपि परस्परस्योपरि पर्यचीयत = वव्रृधे । कर्मकर्तरि लङ् । अकृत्रिमत्वात्स्वयमेवोपचितमित्यर्थः । यदेकाधारं वस्तु तदाधारद्वये विभज्यमानं हीयते । अत्र तु तयोः प्रागेकैककर्तृकमेकैकविषयं प्रेम सम्प्रति द्वितीयविषयलाभेऽपि नाहीयत । प्रत्युतोपचितमेवाभूदिति भावः ॥२४॥

टीका—चकवा चकई के समान उनका हृदयाकर्षक पारस्परिक जो प्रेम था, वह एक पुत्र से बँट जाने पर भी एक दूसरे के ऊपर बढ़ता गया ॥ २४ ॥

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥२५॥

दण्डान्वयः—स अर्भकः धात्र्या प्रथमोदितं वचः उवाच । च तदीयाम् अंगुलिम् अवलम्ब्य ययौ । च प्रणिपातशिक्षया नम्रः अभूत् । तेन पितुः मुदं ततान ।

सोऽर्भकः = शिशुः। 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः। धात्र्या = उपमात्रा। 'धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु' इति विश्वः। प्रथममुदितमुपदिष्टं वच उवाच। तदीयामङ्गुलिमवलम्ब्य ययौ च। प्रणिपातस्य शिक्षयोपदेशेन नम्रोऽभूच्च। इति यत्नेन पितुर्मुदं ततान ॥ २५ ॥

टीका—वह बालक धायसे पहले सिखाए हुए वचन बोलने लगा। और उसकी अङ्गुली पकड़कर चलने लगा। और प्रणाम करनेकी शिक्षासे नम्र होने लगा। उससे पिताके आनन्दको बढ़ाने लगा ॥२५॥

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसम्मीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२६॥

दण्डान्वयः—शरीरयोगजैः सुखैः – त्वचि अमृतं निषिञ्चन्तम् इव-तम् अङ्कम् आरोप्य उपान्तसम्मीलितलोचनः नृपः चिरात् सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ।

शरीरयोगजैः सुखैस्त्वचि = त्वगिन्द्रियेऽमृतं निषिञ्चन्तं = वर्षन्तमिव तं = पुत्रमङ्कमारोप्य मुदाविर्भावादुपान्तयोः प्रान्तयोः सम्मीलितलोचनः सन्। नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ। रसः स्वादः ॥२६॥

टीका—(राजकुमारके) शरीरके सम्पर्कसे उत्पन्न आनन्द से-चाम (स्पर्शेन्द्रिय) पर मानों अमृत बरसाते हुए—उसको गोदमें बैठाकर आँख बन्द किए हुए राजाने बहुत समयके बाद पुत्रके स्पर्शसुखका अनुभव किया ॥ २६ ॥

१९११ १९२१ १९३२ अमंस्तचानेनपरार्ध्यजन्मनास्थितेरभेत्तास्थितिमन्तमन्वयं
स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्रयवर्तिनापतिःप्रजानामिवसर्गमात्मनः

दण्डान्वयः—च स्थितेः अभेत्ता (दिलीपः) परार्ध्यजन्मना गुणाग्रयवर्तिना स्वमूर्तिभेदेन अनेन अन्वयं-प्रजानां पतिः (गुणाग्रयवर्तिना स्वमूर्तिभेदेन) आत्मनः सर्गम् इव—स्थितिमन्तम् अमंस्त।

स्थितेरभेत्ता = मर्यादापालकः स नृपः परार्ध्यजन्मना = उत्कृष्टजन्मनाऽनेन = रघुणाऽन्वयं = वंशम्। प्रजानां पतिः = ब्रह्मा। गुणाः सत्त्वा-

दयः। तेष्वग्र्येण मुख्येन सत्त्वेन वर्तते व्याप्रियत इति गुणाग्र्यवर्ती। तेन स्वस्य मूर्तिभेदेनावतारविशेषेण विष्णुनाऽऽत्मनः सर्गं = सृष्टिमिव स्थितिमन्तं = प्रतिष्ठावन्तममंस्त = मन्यतेस्म। मन्यतेरनुदात्तत्वादिट्प्रतिषेधः। अत्रोपमानोपमेययोरितरेतरविशेषणानीतरेतरत्र योज्यानि। तत्र रघुपक्षे गुणा विद्याविनयादयः। 'गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां सूदे वृकोदरे। स्तम्बे सत्त्वादिसन्ध्यादिविद्यादिहरितादिषु॥' इति विश्वः। शेषं सुगमम्॥ २७॥

टीका—और मर्यादापालक (प्रजाधीश्वर दिलीप) ने उत्कृष्ट जन्मवाले, (विद्याविनयादि) गुण सम्पन्न, अपने शरीर से उत्पन्न इस (रघु) से (अपने) वंश को—प्रजापति (ब्रह्मा) सत्त्वगुणप्रधान, अपने अवतार भेद विष्णु से अपनी सृष्टि को जिस प्रकार प्रतिष्ठित मानते हैं, उसीप्रकार माना॥ २७॥

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥२८॥

दण्डान्वयः-वृत्तचूलः स चलकाकपक्षकैः सवयोभिः अमात्यपुत्रैः अन्वितः लिपेः यथावत् ग्रहणेन वाङ्मयं नदी मुखेन समुद्रम् इव-आविशत्।

'चूडा कार्या द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्या श्रुतिचोदनात्॥ इति मनुस्मरणात्तृतीये वर्षे वृत्तचूलः = निष्पन्नचूडाकर्मा सन्। डलयोरभेदः। सः = रघुः। 'प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्यारम्भं च कारयेत्' इति वचनात्पञ्चमे वर्षे चलकाकपक्षकैः=चञ्चलशिखण्डकैः। 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः' इति हलायुधः। सवयोभिः = स्निग्धैः। 'वयस्यः स्निग्धः सवयाः' इत्यमरः। अमात्यपुत्रैरन्वितः सन्। लिपेः = पञ्चाशद्वर्णात्मिकायाः मातृकायाः यथावद्ग्रहणेन = सम्यग्बोधेनोपायभूतेन वाङ्मयं = शब्दजातम्। नद्या मुखं द्वारम्। 'मुखं तु वदने मुख्यारम्भे द्वाराभ्युपाययोः' इति यादवः। तेन कश्चिन्मकरादिः समुद्रमिव। आविशत् = प्रविष्टः। ज्ञातवानित्यर्थः॥ २८॥

टीका--चूड़ाकर्म के अनन्तर वह उड़ती जुल्फवाले, समान अवस्थावाले मन्त्री पुत्रों के साथ वर्णमाला का यथाविधि परिचय पाकर शब्दशास्त्र में—नदी के मुहाने से (घड़ियाल आदि) जैसे समुद्र में प्रवेश करते हैं उसी तरह—प्रविष्ट हुआ ॥२८॥

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति २९

दण्डान्वयः—अथ विधिवत् उपनीतं गुरुप्रियम् एवं विपश्चितः गुरवः विनिन्युः । च ते अत्र अवन्ध्ययत्ना बभूवुः हि क्रिया वस्तूपहिता प्रसीदति ।

'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भाच्च द्वादशे विशः ॥' इति मनुस्मरणादथ = गर्भैकादशेऽब्दे विधिवदुपनीतं गुरुप्रियमेनं = रघुं विपश्चितः = विद्वांसो गुरवो विनिन्युः=शिक्षितवन्तः । ते = गुरवोऽत्र = अस्मिन्नवावबन्ध्ययत्नाश्च बभूवुः । तथाहि । क्रिया = शिक्षा । 'क्रिया तु निष्कृतौ शिक्षाचिकित्सोपायकर्मसु' इति यादवः । वस्तुनि पात्रभूत उपहिता प्रयुक्ता प्रसीदति = फलति । 'क्रिया हि द्रव्यं विनश्यति नाद्रव्यम्' इति कौटिल्यः ॥ २९ ॥

टीका—तब विधिपूर्वक यज्ञोपवीत हुए, गुरुप्रिय, उस राजकुमार-को विद्वान् गुरु लोग शिक्षा देनेलगे । और वे इस कुमार के प्रति सफल प्रयत्नवाले हुए । क्योंकि शिक्षा सुपात्र को दी हुई सफल होती है ॥२९॥

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥३०॥

दण्डान्वयः—उदारधीः सः धियः समग्रैः गुणैः चतुरर्णवोपमाः चतस्रः विद्याः हरिताम् ईश्वरः पवनातिपातिभिः हरिद्भिः (चतसृभिः) दिशः इव क्रमात् ततार ।

अत्र कामन्दकः—शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा । ऊहापोहो-ऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥' इति । 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती । एता विद्याश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः ॥' इति च । उदारधीः = उत्कृष्टबुद्धिः सः = रघुः समग्रैर्धियो गुणैः । चत्वारोऽर्णवा

उपमा यासां ताश्चतुर्णवोपमाः । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्युत्तरपदसमासः । चतस्रो विद्याः । हरितां = दिशामीश्वरः = सूर्यः पवनातिपातिभिर्हरिद्भिः = निजाश्वैः । 'हरित्ककुभि वर्णे च तृणवाजिविशेषयोः' इति विश्वः । चतस्रसो दिश इव क्रमात्ततार । चतुर्णवोपमत्वं दिशामपि द्रष्टव्यम् ॥ ३० ॥

टीका—कुशाग्रबुद्धि उस रघु ने बुद्धि के समस्त गुणों से चार समुद्र के समान चार (आन्वीक्षिकी-वेदत्रयी-सम्पत्तिशास्त्र-राजनीतिशास्त्र) विद्याओं को—दिशाओं के पति सूर्य जैसे वायु से अधिक वेगवाले अपने घोड़ों से (चार दिशाओं को पार करते हैं)—क्रम से पार किया ॥ ३० ॥

१९२२ { त्वचंसमेध्यांपरिधायरौरवीमशिक्षतास्त्रंपितुरेवमन्त्रवत्
न केवलंतद्गुरुरेकपार्थिवःक्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः

दण्डान्वयः—सः मेध्यां रौरवीं त्वचं परिधाय पितुः एव मन्त्रवत् अस्त्रम् अशिक्षत । तद्गुरुः क्षितौ केवलम् एकपार्थिवः न अभूत् । (किन्तु) सः (दिलीपः) एक धनुर्धरः अपि (अभूत्)

सः = रघुः । "कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः । वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाजिकानि च" ॥ इति मनुस्मरणान्मेध्यां=शुद्धां रौरवीं= =रुरुसम्बन्धिनीम् । 'रुरुर्महाकृष्णसारः' इति यादवः । त्वचं=चर्म परिधाय =वसित्वा मन्त्रवत् = समन्त्रकमस्त्रम् = आग्नेयादिकं पितुरेव=उपाध्यायादशिक्षत=अभ्यस्तवान् । "आख्यातोपयोगे" इत्यपादानसंज्ञा । पितुरेवेत्यवधारणमुपपादयति— नेति । तद्गुरुरेकोऽद्वितीयः पार्थिवः केवलं=पृथिवीश्वर एव नाभूत् । किन्तु क्षितौ सः= दिलीप एको धनुर्धरोऽप्यभूत् ॥३१॥

टीका—उसने पवित्र कृष्णमृग के चर्म को धारण करके, पिता ही से समन्त्रक अस्त्रों को सीखा । उसका पिता पृथ्वी में केवल अद्वितीय चक्रवर्ती ही न था । (बल्कि) वह (दिलीप) अद्वितीय धनुर्धारी भी था ॥ ३१ ॥

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥३२॥

दण्डान्वयः—महोक्षतां स्पृशन् वत्सतरः इव, द्विपेन्द्रभावं श्रयन् कलभः इव, रघुः क्रमात् यौवनभिन्नशैशवः (सन्) गाम्भीर्यमनोहरं वपुः पुपोष ।

रघुः क्रमाद्यौवनेन भिन्नशैशवो निरस्तशिशुभावः सन् । महानुक्षा महोक्षो महर्षभः । "अचतुरविचतुर०" इत्यादिसूत्रेण निपातनादकारान्तत्वम् । तस्य भावस्तत्ता । तां स्पृशन् = गच्छन् वत्सतरः = दम्य इव । 'दम्य-वत्सतरौ समौ' इत्यमरः । द्विपेन्द्रभावं = महागजत्वं श्रयन् = व्रजन् कलभः=करिपोत इव । गाम्भीर्येणाचापलेन मनोहरं वपुः पुपोष॥३२॥

टीका—बैलपन (के भाव) को पहुँचते हुए बछड़े के समान, गजराजपन को पहुँचते हुए हाथी के बच्चे की तरह, रघु क्रम से जवानी द्वारा लड़कपन दूर होने पर अपने गम्भीर और सुन्दर शरीर को पुष्ट करने लगे ॥ ३२ ॥

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः ।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमानुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥३३॥

दण्डान्वयः—अथ गुरुः अस्य गोदानविधेः अनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयत् । नरेन्द्रकन्याः तम्-दक्षसुताः तमोनुदम् इव-सत्पतिम् अवाप्य आबभुः ।

'गौर्नाऽऽदित्ये बलीवर्दे क्रतुभेदपिभेदयोः । स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि । पुंस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु ॥' इति केशवः । गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्तव्यं केशान्ताख्यं कर्मोच्यते । तदुक्तं मनुना—'केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥' इति । अथ गुरुः = पिता । 'गुरुर्गीष्पतिपित्राद्यौ' इत्यमरः । अस्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयत् । कृतवानित्यर्थः । अथ नरेन्द्रकन्यास्तं = रघुम् । दक्षस्य सुता रोहिण्यादयस्तमोनुदं = चन्द्रमिव । 'तमोनुदोऽग्निचन्द्रार्काः' इति

विश्वः । सत्पतिमवाप्याबभुः । रघुरपि तमोनुत् । अत्र मनुः—'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् । अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥' इति ॥ ३३ ॥

टीका—तब पिता ने कुमार के केशान्त संस्कार के बाद विवाह क्रिया करायी । राज-कन्याएँ उस-दत्त कन्याएँ (रोहिणी आदि २७) चन्द्र के समान-उत्तम पति को पाकर अत्यन्त शोभित हुईं॥३३॥

सम्प्रति यौवराज्ययोग्यतामाह—

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।
वपुःप्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥३४॥

दण्डान्वयः— युवा युगव्यायतबाहुः अंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः रघुः वपुःप्रकर्षात् गुरुम् अजयत् । तथापि (सः) विनयात् नीचैः अदृश्यत ।

युवा । युगो नाम धुर्यस्कन्धगः सच्छिद्रप्रान्तो यानाङ्गभूतो दारुविशेषः । 'यानाद्यङ्गे युगः पुंसि युगं युग्मे कृतादिषु' इत्यमरः । युगवद्व्यायतौ दीर्घौ बाहू यस्य सः । अंसावस्य स्त इत्यंसलः = बलवान् । मांसलश्चेति वृत्तिकारः । 'बलवान्मांसलोंऽसलः' इत्यमरः "वत्सांसाभ्यां कामबले" इति लच्प्रत्ययः । कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः = विशालग्रीवः । 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः । रघुर्वपुषः प्रकर्षादाधिक्याद्यौवनकृतादुगुरुं = पितरमजयत् तथापि विनयात् = नम्रत्वेन नीचैः = अल्पकोऽदृश्यत । अनौद्धत्यं च विवक्षितम् ॥ ३४ ॥

टीका—युवा, जूआ की तरह लम्बी भुजावाले, बली, किवाड़ के समान चौड़ी छातीवाले और विशाल गरदनवाले रघु ने शरीर-सौन्दर्य से पिता को जीत लिया था । तो भी (वह) नम्रता से छोटा दिखाई पड़ता था ॥ ३४ ॥

सम्प्रति तस्य यौवराज्यमाह—

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम् ।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥३५॥

दण्डान्वयः—ततः आत्मना चिरं धृतां नितान्तगुर्वीं प्रजानां धुरं लघयिष्यता नृपेण 'असौ निसर्गसंस्कारविनीतः' इति युवराजशब्दभाक् चक्रे ।

तत आत्मना चिरं धृतां नितान्तगुर्वीम् । "वोतो गुणवचनात्" इति ङीप् । प्रजानां धुरं = पालनप्रयासं लघयिष्यता = लघुं करिष्यता । "तत्करोति तदाचष्टे" इति लघुशब्दाण्णिच् । ततो "लृटः सद्वा" इति शतृप्रत्ययः । नृपेण = दिलीपेनासौ = रघुर्निसर्गेण स्वभावेन संस्कारेण शास्त्राभ्यासजनितवासनया च विनीतो नम्र इति = हेतोः । युवराज इति शब्दं भजतीति तथोक्तः । "भजो-ण्विः" इति ण्विप्रत्ययः । चक्रे = कृतः । 'द्विविधो विनयः स्वाभाविकः कृत्रिमश्च' इति कौटिल्यः । तदुभयसम्पन्नत्वात्पुत्रं युवराजं चकारेत्यर्थः । अत्र कामन्दकः—'विनयोपग्रहान्भूत्यै कुर्वीत नृपतिः सुतान् । अवनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते ॥ विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेत् ॥' इति ॥ ३५ ॥

टीका—तब स्वयं बहुतकाल से धारण किए हुए बहुत भारी प्रजापालन के भार को हल्का करने की इच्छा करते हुए राजा ने 'यह रघु स्वभाव और शास्त्राभ्यासोत्पन्न वासना से नम्र है' ऐसा (जानकर) युवराज पद से विभूषित किया ॥ ३५ ॥

नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम् ।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ३६

दण्डान्वयः—गुणाभिलाषिणी श्रीः नरेन्द्रमूलायतनात् अनन्तरं युवराजसंज्ञितं तदास्पदम्-कमलात् (श्रीः) नवावतारम् उत्पलम् इव-अंशेन अगच्छत् ।

गुणान्विनयादीन्सौरभ्यादींश्चाभिलषतीति गुणाभिलाषिणी श्रीः=राज्यलक्ष्मीः पद्माश्रया च नरेन्द्रो दिलीप एव मूलायतनं प्रधानस्थानं तस्मात् । अपादानात् । अनन्तरं = सन्निहितम् । युवराज इति संज्ञाऽस्य सञ्जाता तं युवराजसंज्ञितम् । तारकादित्वादितच्प्रत्ययः । आत्मनः पदं स्थानमास्पदम् । "आस्पदं प्रतिष्ठायाम्" इति निपातः । स रघुरित्यास्पदं तदास्पदम् । कमलाच्चिरोत्पन्नान्नवावतारम् = अचिरोत्पन्नमुत्पलमिव । अंशेना-

ऽगच्छत् । स्त्रियो हि यूनि रज्यन्त इति भावः ॥ ३६ ॥

टीका—(विनयादि) गुणों की चाह रखनेवाली राजलक्ष्मी राजा दिलीप रूपी मुख्य स्थान से निकटस्थ युवराज पदवीवाले रघुरूपी अपने स्थान को—(सुगन्धि आदि गुणों की चाह रखनेवाली, कमल में निवास करनेवाली) जैसे प्राचीन कमल से नूतनोत्पन्न कमल में जाती है, वैसे—अंशरूप से गयी ॥ ३६ ॥

विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।
बभूव तेनातितरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥३७॥

दण्डान्वयः—सारथिना वायुना विभावसुः इव, घनव्यपायेन गभस्तिमान् इव, कटप्रभेदेन करी इव, तेन पार्थिवः अतितरां सुदुःसहः बभूव ।

सारथिना = सहायभूतेन । एतद्विशेषणमुत्तरवाक्येष्वप्यनुषञ्जनीयम् । वायुना विभावसुः = वह्निरिव । 'सूर्यवह्नी विभावसू' इत्यमरः । घनव्यपायेन = शरत्समयेन सारथिना गभस्तिमान् = सूर्य इव । कटो गण्डः । 'गण्डः कटो मदो दानम्' इत्यमरः । तस्य प्रभेदः स्फुटनम् । मदोदय इत्यर्थः । तेन करीव । पार्थिवः=दिलीपस्तेन = रघुणाऽतितराम्=अत्यन्तं सुदुःसहः = सुष्ठ्वसह्यो बभूव ॥ ३७ ॥

टीका—सहायता करनेवाले पवन से अग्नि की भाँति, शरत्काल से सूर्य की तरह, गण्डस्थल के मद से हाथी के समान उस रघु से राजा दिलीप अत्यन्त दुःसह (अजेय) हुए ॥३७॥

नियुज्य तं होमतुरङ्गरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम् ।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥३८॥

दण्डान्वयः—शतक्रतूपमः सः राजसुतैः अनुद्रुतं धनुर्धरं तं होमतुरङ्गरक्षणे नियुज्य एकेन अपूर्णं क्रतूनां शतम् अपविघ्नम् (यथा स्यात् तथा)आप ।

शतक्रतुरिन्द्र उपमा यस्य स शतक्रतूपमः सः = दिलीपः । "शतं वै तुल्या राजपुत्रा देवा आशापालाः" इत्यादिश्रुत्या । राजसुतैरनुद्रुतम् = अनुगतं धनुर्धरं तं = रघुं होमतुरङ्गाणां रक्षणे नियुज्य । एकेन क्रतुनाऽ-

पूर्णम् = एकोनं क्रतूनाम् = अश्वमेधानां शतमपविघ्नम् = अपगतविघ्नं यथा तथाऽऽप ॥ ३८ ॥

टीका—इन्द्र के सदृश उस राजा ने, राजकुमारों से अनुसरण किए गए, धनुर्द्धारी उस युवराज को यज्ञ के घोड़े की रक्षा करने में नियुक्त कर, एक कम सौ (अर्थात् निन्यानवे) यज्ञों को निर्विघ्न समाप्त किया ॥ ३८ ॥

ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः ।
धनुर्भृतामग्रमत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥३९॥

दण्डान्वयः—ततः परं यज्वना तेन पुनः मखाय उत्सृष्टं अनर्गलं तुरङ्गं शक्रः गूढविग्रहः (सन्) धनुर्भृतां रक्षिणाम् अग्रतः एव जहार किल ।

ततः परम् = एकोनशतक्रतुप्राप्त्यनन्तरं यज्वना=विधिनेष्टवता तेन= दिलीपेन पुनः = पुनरपि मखाय = मखं कर्तुम् । "क्रियार्थोपपदस्य०" इत्यादिना चतुर्थी । उत्सृष्टं = मुक्तमनर्गलम् = अप्रतिबन्धम् । अव्याहतस्वैरगतिमित्यर्थः । "अपर्यावर्तयन्तोऽश्वमनुचरन्ति" इत्यापस्तम्बस्मरणात् । तुरङ्गं धनुर्भृतां रक्षिणां = रक्षकाणामग्रत एव शक्रो गूढविग्रहः सन् । जहार किल । किलेत्यैतिह्ये ॥ ३९ ॥

टीका—उसके बाद यज्ञ करनेवाले उस दिलीप से फिर यज्ञ के लिए छोड़े गए बेरोकटोक घोड़े को इन्द्र ने गुप्त शरीरवाला होकर धनुषधारी रक्षकों के सामने ही से हरण कर लिया ॥ ३९ ॥

विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।
वसिष्ठधेनुश्च यदृच्छयाऽऽगता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥

दण्डान्वयः—च सपदि विषादलुप्तप्रतिपत्ति तत् कुमारसैन्यं विस्मितं (सत्) स्थितम् । अथ च श्रुतप्रभावा यदृच्छया आगता नन्दिनी (नाम) वसिष्ठधेनुः ददृशे ।

तत्कुमारस्य सैन्यं सेना सपदि । विषाद इष्टनाशकृतो मनोभङ्गः । तदुक्तम्—'विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः' इति । तेन लुप्ता

प्रतिपत्तिः कर्तव्यज्ञानं यस्य तत्तथोक्तम् । विस्मितम् अश्वनाशस्याकस्मिकत्वादाश्चर्याविष्टं सत् । स्थितं = तस्थौ । अथ श्रुतप्रभावा यदृच्छया = स्वेच्छयाऽऽगता । रघोः स्वप्रसादलब्धत्वादनुजिघृक्षयेति भावः । नन्दिनी नाम वसिष्ठधेनुश्च ददृशे । द्वौ चकारावविलम्बसूचकौ ॥ ४० ॥

टीका—सहसा मनोरथ के भङ्ग होने से किंकर्तव्यविमूढ़ हो वह कुमार की सेना चकित होकर खड़ी रही। तब सुनी हुई प्रभाववाली अपनी इच्छा से आई हुई नन्दिनी नामक वसिष्ठ की गाय दिखाई पड़ी ॥ ४० ॥

तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥४१॥

दण्डान्वयः—सतां पुरस्कृतः दिलीपनन्दनः पुण्येन तदङ्गनिष्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य अतीन्द्रियेषु भावेषु अपि उपपन्नदर्शनः बभूव ।

सतां पुरस्कृतः = पूजितो दिलीपनन्दनः = रघुः पुण्येन तस्या नन्दिन्या यदङ्गं तस्य निस्यन्दो द्रवः स एव जलम् । मूत्रमित्यर्थः । तेन लोचने प्रमृज्य = शोधयित्वा । अतीन्द्रियेषु = इन्द्रियाण्यतिक्रान्तेषु । * अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया * इति समासः । द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु परवल्लिङ्गताप्रतिषेधाद्विशेष्यनिघ्नत्वम् । भावेषु = वस्तुष्वप्युपपन्नदर्शनः = सम्पन्नसाक्षात्कारशक्तिर्बभूव ॥ ४१ ॥

टीका—सज्जनों से पूजित, दिलीपकुमार रघु पवित्र, उसके अंग से निकले हुए जल (मूत्र) से आँखों को धोकर इन्द्रियों से परे पदार्थों में भी देखने का सामर्थ्यवाला हुआ ॥ ४१ ॥

स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसम्भवः ।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥

दण्डान्वयः—नरदेवसम्भवः सः पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं रथरश्मिसंयतं अश्वं हरन्तं पर्वतपक्षशातनं देवं पूर्वतः ददर्श ।

नरदेवसम्भवः सः = रघुः पुनः पुनः सूतेन निषिद्धचापलं निवारितौ-

द्धत्यं रथस्य रश्मिभिः प्रग्रहैः । 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । संयतं बद्धमश्वं हरन्तं पर्वतपक्षाणां शातनं छेदकं देवम् = इन्द्रं पूर्वतः = पूर्वस्यां दिशि ददर्श ॥ ४२ ॥

टीका—राजा के पुत्र उस रघु ने बारबार सारथी द्वारा रोकी गयी चपलतावाले और रथ की रस्सी में बँधे हुए घोड़े को हर कर ले जाते हुए, पहाड़ों के पंख काटने वाले इन्द्र को पूर्व दिशा में देखा ॥ ४२ ॥

१६२० १६३१ शतैस्तमदृणामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव॥४३॥

दण्डान्वयः—रघुः अनिमेषवृत्तिभिः अक्ष्णां शतैः च हरिभिः वाजिभिः तं हरिं विदित्वा एनं गगनस्पृशा धीरेण स्वरेण (एव) निवर्तयन् इव अवोचत्।

रघुस्तम् = अश्वहर्तारमनिमेषवृत्तिभिः=निमेषव्यापारशून्यैरक्ष्णां शतैः हरिभिः = हरिद्वर्णैः । 'हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित्कपिलवर्णयोः' इति विश्वः । वाजिभिः = अश्वैश्च हरिम् = इन्द्रं विदित्वा । 'हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्र-यमोपेन्द्र-मरीचिषु' इति विश्वः । एनम्=इन्द्रं गगनस्पृशा = व्योमव्यापिना धीरेण=गम्भीरेण स्वरेण=ध्वनिनैव निवर्तयन्निवावोचत्॥४३॥

टीका—रघु ने पलक न गिरानेवाली सैकड़ों आँखों से और हरे रंग के घोड़ों से उन्हें इन्द्र जान कर उनसे आकाशस्पर्शी गम्भीर आवाज़ से लौटाते हुए की तरह पुकारा ॥ ४३ ॥

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र ! सदा निगद्यसे ।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ॥४४॥

दण्डान्वयः—हे देवेन्द्र ! मनीषिभिः त्वम् एव मखांशभाजां प्रथमः सदा निगद्यसे । (तथापि सः त्वम्) अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ?

हे देवेन्द्र ! मनीषिभिस्त्वमेव मखांशभाजां = यज्ञभागभुजां प्रथमः सदा निगद्यसे=कथ्यसे । तथाप्यजस्रदीक्षायां नित्यदीक्षायां प्रयतस्य मद्

गुरोः क्रियाविघाताय = क्रतुविघाताय । क्रियां विहन्तुमित्यर्थः । "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इति चतुर्थी । कथं प्रवर्तसे ॥ ४४ ॥

टीका—हे देवराज (इन्द्र)! विद्वानों से तुम्हीं यज्ञभाग के ग्रहण करनेवालों में प्रधान कहे गए हो। तो निरन्तर यज्ञदीक्षा में तत्पर मेरे पिता के यज्ञकर्म को बिगाड़ने के लिए क्यों प्रवृत्त हो रहे हो ? ॥ ४४ ॥

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः

दण्डान्वयः— त्रिलोकनाथेन दिव्यचक्षुषा त्वया मखद्विषः सदा ननु नियम्याः । सः त्वं धर्मचारिणां कर्मसु स्वयम् अन्तरायः भवसि चेत्, विधिः च्युतः ।

त्रयाणां लोकानां नाथस्त्रिलोकनाथः । "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तेन त्रैलोक्यनियामकेन दिव्यचक्षुषा = अतीन्द्रियार्थदर्शिना त्वया मखद्विषः = क्रतुविघातकाः सदा नियम्या ननु = शिक्ष्याः खलु । स त्वं धर्मचारिणां कर्मसु = क्रतुषु स्वयमन्तरायः = विघ्नो भवसि चेत् । विधिः = अनुष्ठानं च्युतः = क्षतः । लोके सत्कर्मकथैवास्तमियादित्यर्थः ॥ ४५ ॥

टीका—तीनों लोकों के अधीश्वर दिव्य नेत्र वाले आपको यज्ञविध्वंस करने वालों को सदा दण्ड देना चाहिये। वही आप धर्मपरायण मनुष्यों के यज्ञादि कर्मों में स्वयं विघ्न हो रहे हैं तो पुण्यकर्म नष्ट हुआ ही है ॥ ४५ ॥

१९१३ { तदङ्गमग्र्यं मघवन्महाक्रतोरमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् }

दण्डान्वयः—तत् हे मघवन्! महाक्रतोः अग्र्यम् अङ्गम् अमुम् तुरङ्गम् प्रतिमोक्तुम् अर्हसि । श्रुतेः पथः दर्शयितारः ईश्वराः मलीमसां पद्धतिं न आददते

हे मघवन् ! तत् = तस्मात्कारणान्महाक्रतोः = अश्वमेधस्याग्र्यं = श्रेष्ठमङ्गं=साधनममुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुं =प्रतिदातुमर्हसि । तथा हि । श्रुतेः

पथो दर्शयितारः=सन्मार्गप्रदर्शका ईश्वराः=महान्तो मलीमसां=मलिनां पद्धतिं मार्गं नाददते=न स्वीकुर्वते। असन्मार्गं नावलम्बन्त इत्यर्थः। 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः ॥ ४६ ॥

टीका—इस लिये हे इन्द्र! महायज्ञ (अश्वमेध) के मुख्य साधन इस घोड़े को छोड़ने के लिये आप योग्य हैं। (क्योंकि) वेद मार्ग के प्रदर्शक बड़े लोग बुरे मार्ग का अनुसरण नहीं करते ॥४६॥

इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम्।
निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम्॥४७॥

दण्डान्वयः—इति रघुणा समीरितं प्रगल्भं वचः निशम्य दिवौकसाम् अधिपतिः सविस्मयः (सन्) रथं निवर्तयामास, च उत्तरं प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे।

इति रघुणा समीरितं प्रगल्भं वचो निशम्य=आकर्ण्य। दिवौकसः स्वर्गौकसः। 'दिवं स्वर्गेऽन्तरिक्षे च' इति विश्वः। तेषामधिपतिः=देवेन्द्रो रघुप्रभावात्सविस्मयः सन्। रथं निवर्तयामास। उत्तरं प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे च ॥ ४७ ॥

टीका—ऐसा रघु से कहे हुए ढीठ वचन को सुनकर देवताओं के राजा इन्द्र ने चकित हो रथ लौटाया और उत्तर देना आरम्भ किया ॥ ४७ ॥

१९१५ / १९३२ यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः॥

दण्डान्वयः—हे राजन्यकुमार। यत् आत्थ तत् तथा। तु यशोधनैः परतः यशः रक्ष्यम्। अशेषं जगत्प्रकाशं मम तत् (यशः) भवद्गुरुः इज्यया लङ्घयितुम् उद्यतः।

हे राजन्यकुमार! = क्षत्रियकुमार! 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः। यद्=वाक्यमात्थ=ब्रवीषि। "ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः" इत्यनेनाहादेशः। तत्तथा=सत्यम्। किन्तु यशोधनैरस्मादृशैः परतः=शत्रुतो यशो रक्ष्यम्। ततः किमत आह—भवद्-

गुरुः = त्वत्पिता जगत्प्रकाशं=लोकप्रसिद्धमशेषं = सर्वं मम तद् = यश इज्यया = यागेन लङ्घयितुं = तिरस्कर्तुमुद्यतः = उद्युक्तः ॥ ४८ ॥

टीका—हे राजकुमार ! जो कहते हो सो ठीक है। परन्तु (हमारे ऐसे) यश के धनिकों को शत्रुओं से कीर्ति की रक्षा करनी उचित है। समस्त लोकप्रसिद्ध मेरे उस यश को आपके पिता यज्ञ द्वारा उल्लंघन करने के लिये उद्यत हैं ॥ ४८ ॥

किं तद्यश इत्याह—

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः॥४९॥

दण्डान्वयः—यथा हरिः एकः (एव) पुरुषोत्तमः स्मृतः, (च यथा) त्र्यम्बकः एव महेश्वरः (स्मृतः) अपरः न, तथा मुनयः मां शतक्रतुं विदुः नः एषः शब्दः द्वितीयगामी न हि।

पुरुषेपूत्तम इति सप्तमीसमासः। "न निर्धारणे" इति षष्ठीसमास-निषेधात्। कर्मधारये तु "सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः" इत्युत्त-मपुरुष इति स्यात्। यथा हरिः=विष्णुरेक एव पुरुषोत्तमः स्मृतः। यथा च त्र्यम्बकः = शिव एव महेश्वरः स्मृतः। नापरः = अपरः पुमान्न। तथा मां मुनयः शतक्रतुं विदुः = विदन्ति। "विदो लटो वा" इति झेर्जु-सादेशः। नः = अस्माकम्। हरिहरयोर्मम चेत्यर्थः। एष = त्रितयोऽपि शब्दो द्वितीयगामी न हि। द्वितीयाप्रकरणे नमिगम्यादीनामुपसंख्याना-त्समासः ॥ ४९ ॥

टीका—जैसे विष्णु ही एक पुरुषोत्तम कहे गए हैं, शिव ही जैसे महेश्वर कहे गये हैं, और दूसरे नहीं। उसी तरह मुनि लोग मुझे शतक्रतु (सौ अश्वमेध यज्ञका कर्ता) जानते हैं। हम लोगोंके ये शब्द (पुरुषोत्तम-महेश्वर-शतक्रतु) दूसरे व्यक्ति को अप्राप्त हैं ॥४९॥

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयाऽपहारितः
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः ॥

दण्डान्वयः—अतः कपिलानुकारिणा मया त्वदीयस्य पितुः अयम् अश्वः अपहारितः। अत्र तव प्रयत्नेन अलम्। सगरस्य सन्ततेः पदव्यां पदं मा निधाः।

यतोऽहमेव शतक्रतुरतस्त्वदीयस्य पितुरयं=शततमोऽश्वः कपिलानुकारिणा=कपिलमुनितुल्येन मयाऽपहारितः=अपहृतः। अपहारित इति स्वार्थे णिच्। तवात्र=अश्वे प्रयत्नेनालम्। प्रयत्नो मा कारीत्यर्थः। निषेध्यस्य निषेधं प्रति करणत्वात्तृतीया। सगरस्य=राज्ञः सन्ततेः=सन्तानस्य पदव्यां पदं मा निधाः=न निधेहि। निपूर्वाद्धाधातोर्लुङ्। "न माङ्योगे" इत्यडागमप्रतिषेधः। महदास्कन्दनं ते विनाशमूलं स्यादिति भावः॥ ५०॥

टीका—अतः कपिल मुनि के समान मैंने तुम्हारे पिता के इस घोड़े को हरण कर लिया है। घोड़े के सम्बन्ध में तुम्हारा प्रयत्न करना निष्फल है। महाराज सगर के पुत्रों के मार्ग में पग मत रक्खो (अर्थात् मेरी क्रोधाग्नि में भस्म होने के लिये कटिबद्ध न हो)॥ ५०॥

ततः प्रहस्यापभयः पुरन्दरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्॥५१॥

दण्डान्वयः—ततः तुरगस्य रक्षिता प्रहस्य अपभयः (सन्) पुनः पुरन्दरं बभाषे। यदि एषः ते सर्गः, (तर्हि) शस्त्रं गृहाण। भवान् रघुम् अनिर्जित्य कृती न खलु।

ततस्तुरगस्य रक्षिता=रघुः प्रहस्य=प्रहासं कृत्वा। अपभयः=निर्भीकः सन्। पुनः पुरन्दरं बभाषे। किमिति—हे देवेन्द्र! यद्येष=अश्वामोचनरूपस्ते=तव सर्गः=निश्चयः। 'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु' इत्यमरः। तर्हि शस्त्रं गृहाण। भवान् रघुं=मामनिर्जित्य। कृतमनेनेति कृती। कृतकृत्यो न खलु। "इष्टादिभ्यश्च" इतीनिप्रत्ययः। रघुमित्यनेनात्मनो दुर्जयत्वं सूचितम्॥ ५१॥

टीका—तब घोड़े की रक्षा करने वाले रघु ने हँस कर निडर

हो फिर इन्द्र से कहा। अगर यही तुम्हारा निश्चय है तो शस्त्र उठाओ। आप रघु को जीते बिना कृतकृत्य न होंगे ॥ ५१ ॥

स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम् ।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः ॥५२॥

दण्डान्वयः—एवम् उक्त्वा मघवन्तम् उन्मुखः शरासनं सशरं करिष्यमाणः सः आलीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः (सन्) अतिष्ठत् ।

सः=रघुरुन्मुखः सन् । मघवन्तम्=इन्द्रमेवमुक्त्वा शरासनं=चापं सशरं करिष्यमाणः । आलीढेनालीढाख्येन स्थानकभेदेन विशेषशोभिनाऽतिशयशोभिना वपुःप्रकर्षेण=देहौन्नत्येन विडम्बितेश्वरः=अनुसृतपिनाकी सन् । अतिष्ठत् । आलीढलक्षणमाह यादवः—'स्थानानि धन्विनां पञ्च तत्र वैशाखमस्रियाम् । त्रिवितस्त्यन्तरौ पादौ मण्डलं तोरणाकृति ॥ अन्वर्थं स्यात्समपदमालीढं तु ततोऽग्रतः । दक्षिणे वाममाकुञ्च्य प्रत्यालीढं विपर्ययः' इति ॥ ५२ ॥

टीका—इस प्रकार इन्द्र से कह कर ऊपर मुँह किए धनुष पर बाण चढ़ाते हुए रघु पैंतरा (दाहिना पैर आगे की ओर कुछ नीचे झुका हुआ और बायाँ पैर पीछे की ओर तना हुआ जो होगा उसे आलीढ नामक पैंतरा कहते हैं) विशेष से शोभा देने वाले शरीर के औन्नत्य से महादेवजी की बराबरी करने की तरह खड़े हुए ॥५२॥

रघोरवष्टम्भमयेन पत्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः ।
नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥

दण्डान्वयः—रघोः अवष्टम्भमयेन पत्रिणा हृदि क्षतः अमर्षणः गोत्रभित् अपि नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुषि अमोघं सायकं समधत्त ।

रघोरवष्टम्भमयेन=स्तम्भरूपेण । 'अवष्टम्भः सुवर्णे च स्तम्भप्रारम्भयोरपि' इति विश्वः । पत्रिणा=बाणेन हृदि=हृदये क्षतः=विद्धः । अत एवामर्षणः=असहनः । क्रुद्ध इत्यर्थः । गोत्रभिद्=इन्द्रोऽपि । 'सम्भावनीये चौरेऽपि गोत्रः क्षोणीधरे सतः' इति विश्वः । नवाम्बुदानामनी-

कस्य वृन्दस्य मुहूर्तं क्षणमात्रं लाञ्छने चिह्नभूते धनुषि । दिव्ये धनुषीत्यर्थः । अमोघम्=अवन्ध्यं सायकं=बाणं समधत्त=संहितवान् ॥ ५३ ॥

टीका—रघुके स्तम्भरूपी बाण से छाती में घाव होने से कुपित हो इन्द्र ने भी नूतन मेहसमूह की थोड़ी देर शोभा धारण करने वाले धनुष पर अव्यर्थ बाण चढ़ाया ॥ ५३ ॥

१९१६ १९१८ १९३० दिलीपसूनोः स बृहद्भुजान्तरं प्रविश्यभीमासुरशोणितोचितः
पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम्॥५४॥

दण्डान्वयः—भीमासुरशोणितोचितः सः आशुगः दिलीपसूनोः बृहत् भुजान्तरं प्रविश्य अनास्वादितपूर्वं मनुष्यशोणितं-कुतूहलेन इव पपौ ।

भीमानां भयङ्कराणामसुराणां शोणिते रुधिरे उचितः परिचितः सः= इन्द्रमुक्त आशुगः = सायको दिलीपसूनोः = रघोर्बृहद् = विशालं भुजान्तरं = वक्षः प्रविश्य । अनास्वादितपूर्वं = पूर्वमनास्वादितम् । सुप्सुपेति समासः । मनुष्यशोणितं कुतूहलेनेव पपौ ॥ ५४ ॥

टीका—डरावने दैत्यों के लोहू पीने में परिचित उस बाण ने दिलीपकुमार के विशाल हृदय में घुसकर पहिले न चखे हुए मनुष्य के खून को-कौतुक से मानो-पान किया ॥ ५४ ॥

हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुली ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम्॥५५॥

दण्डान्वयः—कुमारविक्रमः कुमारः अपि सुरद्विपास्फालनकर्कशांगुली शचीपत्रविशेषकाङ्किते हरेः भुजे स्वनामचिह्नं सायकं निचखान ।

कुमारस्य स्कन्दस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य स तथोक्तः । "सप्तम्युपमानपूर्वस्य-" इत्यादिना समासः । कुमारोऽपि = रघुरपि सुरद्विपस्यैरावतस्यास्फालनेन कर्कशा अङ्गुलयो यस्य सः । तस्मिन् । शच्याः पत्रविशेषकैरङ्किते शचीपत्रविशेषकाङ्किते हरेः = इन्द्रस्य भुजे स्वनामचिह्नं = स्वनामाङ्कितं सायकं निचखान = निखातवान् । निष्कण्टकराज्यमासस्यायं महानभिभव इति भावः ॥ ५५ ॥

टीका—स्कन्दकुमार के समान पराक्रमी रघु ने भी ऐरावत से ताड़ित कड़ी अंगुलियोंवाली, इन्द्राणीके तिलक विशेष से भूषित इन्द्र की भुजा पर अपने नाम के निशानवाले बाण को मारा॥५५॥

जहार चान्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् ।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥५६॥

दण्डान्वयः—च अन्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजं जहार । सः-सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणात् इव-तस्मै भृशं चुकोप ।

अन्येन मयूरपत्रिणा = मयूरपत्रवता शरेण शक्रस्य = इन्द्रस्य महाशनिध्वजं = महान्तमशनिरूपं ध्वजं जहार = चिच्छेद च । सः = शक्रः । सुरश्रियः प्रसह्य = बलात्कृत्य केशानां व्यपरोपणादवतारणाच्छेदनादिव । तस्मै = रघवे भृशम् = अत्यर्थं चुकोप । तं हन्तुमियेषेत्यर्थः । क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः" इत्यनेन सम्प्रदानाच्चतुर्थी ॥ ५६ ॥

टीका—दूसरे मोर पंखवाले बाण से इन्द्र की बड़ी वज्रध्वजा को काट दिया । इन्द्र-देवताओं की लक्ष्मी के बलात्कार केश कट जाने की तरह-उस रघु पर बहुत कुपित हुआ ॥ ५६ ॥

तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः ।
बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्रिभिः ॥५७॥

दण्डान्वयः—जयैषिणोः तयोः गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः अधोमुखैः च ऊर्ध्वमुखैः पत्रिभिः उपान्तस्थितसिद्धसैनिकं तुमुलं युद्धं बभूव ।

जयैषिणोः = अन्योन्यजयाकांक्षिणोस्तयोः = इन्द्ररघ्वोः । गरुत्मन्तः पक्षवन्तः । 'गरुत्पक्षच्छदाः पत्रम्' इत्यमरः । आशीविषाः । आशिषि दंष्ट्रायां विषं येषां त आशीविषाः सर्पाः । पृषोदरादित्वात्साधुः । 'स्त्री त्वाशीर्हिताशंसाहिदंष्ट्रयोः' इत्यमरः। त इव भीमदर्शनाः। सपक्षाः सर्पा इव । द्रष्टृणां भयावहा इत्यर्थः । तैरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च । धन्विनोरुपर्यधोदेशावस्थितत्वादिति भावः । पत्रिभिः=बाणैरुपान्तस्थितास्तटस्थाः सिद्धा देवा इन्द्रस्य, सैनिकाश्च रघोर्यस्मिंस्तथोक्तं तुमुलं = संकुलं युद्धं बभूव ॥५७॥

टीका—विजय की अभिलाषा रखनेवाले उन दोनों का, पंख वाले साँपों की तरह देखने में भयानक, (इन्द्र के) अधोमुख और (रघु के) ऊर्ध्वमुख बाणों से, तटस्थ (इन्द्र की ओर) देवता और (रघु की ओर) सैनिकवाला घमासान युद्ध हुआ ॥ ५७ ॥

१९३१ १९३६ अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः।
शशाकनिर्वापयितुंनवासवःस्वतश्च्युतंवह्निमिवाद्रिरंबुदः

दण्डान्वयः—वासवः अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिः दुष्प्रसहस्य तेजसः आश्रयं तम्—अम्बुदः अद्रिः स्वतः च्युतं वह्निम् इव—निर्वापयितुं न शशाक ।

वासवोऽतिप्रबन्धेनातिसातत्येन प्रहिताभिः प्रयुक्ताभिरस्त्रवृष्टिभिर्दुष्प्रसहस्य दुःखेन प्रसह्यत इति दुष्प्रसहं तस्य । दुःखेनाप्यसह्यस्येत्यर्थः । तेजसः = प्रतापस्याश्रयं तं = रघुम् । अम्बुदोऽद्रिः स्वतश्च्युतं = निर्गतं वह्निमिव । निर्वापयितुं न शशाक । रघोरपि लोकपालात्मकस्येन्द्रांशसम्भवत्वादिति भावः ॥ ५८ ॥

टीका—इन्द्र अतीव यत्न से प्रयुक्त अस्त्रों की वर्षा से असह्य तेज के आधार उस रघु को—बादल जलवर्षा के द्वारा अपने से उत्पन्न अग्नि (वैद्युताग्नि) को जिस प्रकार (शान्त करने में असमर्थ होता है, उसी तरह)—शान्त करने में समर्थ नहीं हुए ॥ ५८ ॥

१९३६ ततःप्रकोष्ठेहरिचन्दनाङ्कितेप्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम्।
रघुःशशाङ्कार्धमुखेनपत्रिणाशरासनज्यामलुनाद्विडौजसः

दण्डान्वयः—ततः रघुः हरिचन्दनाङ्किते प्रकोष्ठे प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीं विडौजसः शरासनज्यां शशाङ्कार्धमुखेन पत्रिणा अलुनात् ।

ततो रघुर्हरिचन्दनाङ्किते प्रकोष्ठे = मणिबन्धे प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीं = प्रमथ्यमानार्णव इव धीरं गम्भीरं नदतीति तां तथोक्ताम् । वेवेष्टि व्याप्नोतीति विट् व्यापकमोजो यस्य स तस्य विडौजसः=इन्द्रस्य । पृषोदरादित्वात्साधुः । शरासनज्यां = धनुर्मौर्वीम् । शशाङ्कस्यार्धः खण्ड इव मुखं फलं यस्य तेन पत्रिणाऽलुनात् = अच्छिनत् ॥ ५९ ॥

टीका—तब रघु ने हरिचन्दन लगे हुए पहुँचे में, मथे जाते हुए समुद्र की तरह गम्भीर आवाज़ करने वाली इन्द्र के धनुष की प्रत्यञ्चा (डोरी), अर्द्ध चन्द्र फलवाले बाण से काट डाली ॥५९॥

१९३५ { स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः
महीध्रपक्षच्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥

दण्डान्वयः—विवृद्धमत्सरः सः चापम् उत्सृज्य प्रबलस्य विद्विषः प्रणाशनाय महीध्रपक्षच्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलम् अस्त्रम् आददे ।

विवृद्धमत्सरः = प्रवृद्धवैरः सः = इन्द्रश्चापमुत्सृज्य प्रबलस्य विद्विषः = शत्रोः प्रणाशनाय = वधाय । महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः । मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः । तेषां पक्षच्यपरोपणे पक्षच्छेद उचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रं = वज्रायुधमाददे = जग्राह ॥ ६० ॥

टीका—(धनुष की प्रत्यञ्चा कट जाने से बढ़े हुए क्रोधवाले इन्द्र ने धनुष फेंककर प्रबल वैरी (रघु) के वध के लिए पहाड़ों के पंखों के काटने में कुशल, चमकती हुई प्रभा के मण्डलवाले अस्त्र (वज्र) को लिया ॥ ६० ॥

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ॥

दण्डान्वय—रघुः तेन भृशं वक्षसि ताडितः (सन्) सैनिकाश्रुभिः सह भूमौ पपात । निमेषमात्रात् तद्व्यथाम् अवधूय सैनिकहर्षनिःस्वनैः सह उत्थितः ।

रघुस्तेन = वज्रेण भृशम् = अत्यर्थं वक्षसि ताडितः = हतः सन् । सैनिकानामश्रुभिः सह भूमौ पपात । तस्मिन्पतिते ते रुरुदुरित्यर्थः । निमेषमात्रात्तद्व्यथां = दुःखमवधूय = तिरस्कृत्य सैनिकानां हर्षेण ये निःस्वनाः ध्वेडास्तैः सहोत्थितश्च । तस्मिन्नुत्थिते हर्षात्सिंहनादांश्चक्रुरित्यर्थः ॥६१॥

टीका—रघु उस वज्र से छाती में अत्यन्त चोट लगने से सैनिकों के रुदन के साथ पृथ्वी पर गिर पड़े । पल भर में उस पीड़ा को दूर कर सैनिकों के हर्षनाद के साथ उठ खड़े हुए ॥६१॥

तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥६२॥

दण्डान्वयः—तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरं तस्थुषः अस्य वीर्यातिशयेन वृत्रहा तुतोष। हि गुणैः सर्वत्र पदं निधीयते।

तथापि=वज्रपातेऽपि शस्त्राणामायुधानां व्यवहारेण व्यापारेण निष्ठुरे क्रूरे विपक्षभावे=शात्रवे चिरं तस्थुषः=स्थितवतोऽस्य=रघोर्वीर्यातिशयेन। वृत्रं हतवानिति वृत्रहा। "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्"। तुतोष। स्वयं वीर एव वीरं जानातीति भावः। कथं शत्रोः सन्तोषोऽत आह—गुणैः सर्वत्र=शत्रुमित्रोदासीनेषु पदम्=अङ्घ्रिर्निधीयते। गुणैः सर्वत्र संक्रम्यत इत्यर्थः। गुणाः शत्रूनप्यावर्जयन्तीति भावः॥ ६२॥

टीका—वज्र प्रहार पर भी शस्त्र चलाने में निठुर, शत्रुभाव में बहुत समय तक स्थित इस (रघु) के बल की अधिकता से इन्द्र (वृत्रासुरविनाशक) सन्तुष्ट हुए। क्योंकि गुणों से ही सर्वत्र (शत्रु-मित्र-उदासीनों में) प्रतिष्ठा होती है॥ ६२॥

असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम्।
अवेहि मां प्रीतमतो तुरङ्गमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः॥६३

दण्डान्वयः—"सारवत्तया अद्रिषु अपि असङ्गं मे आयुधं त्वदन्येन न विसोढम्। (अतः) मां प्रीतम् अवेहि। तुरङ्गमात् ऋते किम् इच्छसि" इति वासवः स्फुटम् आह।

सारवत्तयाऽद्रिष्वप्यसङ्गम्=अप्रतिबन्धं मे आयुधं=वज्रं त्वदन्येन न विसोढम्। अतो मां प्रीतं=सन्तुष्टमवेहि। तुरङ्गमादृते=तुरङ्गं वर्जयित्वा। "अन्यारादितरर्ते०" इति पञ्चमी। किमिच्छसीति स्फुटं वासव आह। तुरङ्गमादन्यददेयं नास्तीति भावः॥ ६३॥

टीका—'वज्र से पर्वतों में भी न रुकनेवाले मेरे वज्र को तुम्हारे अतिरिक्त और किसी ने सहन नहीं किया (इस लिए) मुझे सन्तुष्ट जानो। घोड़े के अतिरिक्त क्या चाहते हो?' ऐसा इन्द्र ने स्पष्ट रूप से कहा॥ ६३॥

१९१२ ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम्
१९१३ नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषुं प्रियंवदः प्रत्यवदत्सुरेश्वरम्

दण्डान्वयः—ततः निषङ्गात् असमग्रम् उद्धृतं सुवर्णपुंखद्युतिरञ्जितांगुलिम् इषुं प्रतिसंहरन् प्रियंवदः नरेन्द्रसूनुः सुरेश्वरं प्रत्यवदत् ।

ततो निषङ्गात् = तूणीरादसमग्रं यथा तथोद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिभी रञ्जिता अङ्गुलयो येन तमिषुं प्रतिसंहरन् = निवर्तयन् । नाप्रहरन्तं प्रहरेदिति निषेधादिति भावः । प्रियं वदतीति प्रियंवदः । 'प्रियवशे वदः खच्" इति खच्प्रत्ययः । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इत्यनेन मुमागमः । नरेन्द्रसूनुः = रघुः सुरेश्वरं प्रत्यवदत् । न तु प्राहरदिति भाव ॥ ६४ ॥

टीका—तव तरकस से पूरान (आधा) निकाले हुए, अँगुलियों को रंग देनेवाली सुवर्णमय मूल भाग की कान्ति युक्त बाण को तरकस में रखते हुए मधुरभाषी राजकुमार रघु ने इन्द्र से कहा ॥६४॥

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ! ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि ।
अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥६५॥

दण्डान्वयः—हे प्रभो ! यदि अश्वम् अमोच्यं मन्यसे ततः अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः विधिना एव कर्मणि समाप्ते (सति) क्रतोः अशेषेण फलेन युज्यताम् ।

हे प्रभो = इन्द्र! अश्वममोच्यं मन्यसे यदि ततः = तर्ह्यजस्रदीक्षायां प्रयतः स मद्गुरुः = मम पिता विधिनैव कर्मणि समाप्ते सति क्रतोर्यत्फलं तेन फलेनाशेषेण=कृत्स्नेन युज्यतां=युक्तोऽस्तु । अश्वमेधफललाभे किमश्वेनेति भावः ॥ ६५ ॥

टीका—हे इन्द्र ! यदि घोड़े को छोड़ने योग्य न समझते हों तो निरन्तर यज्ञदीक्षा में तत्पर, वे मेरे पिता विधिपूर्वक ही कर्म की समाप्ति होने पर अश्वमेधयज्ञ के पूरे फल से युक्त होवें ॥ ६५ ॥

१९३१ यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासद
तवैवसंदेशहराद्विशांपतिः शृणोतिलोकेश तथाविधीयताम्

दण्डान्वयः—हे लोकेश ! सदोगतः त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः विशांपतिः यथा च इमं वृत्तान्तं तव एव संदेशहरात् शृणोति तथा विधीयताम्।

सदोगतः सदो गृहं गतस्त्रिलोचनस्येश्वरस्यैकांशतयाऽष्टानामन्यतममूर्तित्वात्। दुरासदः = अस्माद्दुःशैर्दुष्प्राप्यो विशांपतिर्यथेमं वृत्तान्तं तव संदेशहराद = वार्ताहरादेव शृणोति च। हे लोकेश=इन्द्र !, तथा विधीयताम् ॥ ६६ ॥

टीका—हे लोकपाल ! सभा में स्थित, शिवजी के एक अंश होने से हमारे जैसे लोगों के लिए दुष्प्राप्य, महाराज दिलीप जिस तरह इस समाचार को आपके ही दूतसे सुने वैसा आप करें ॥६६॥

तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान्रघोर्यथागतं मातलिसारथिर्ययौ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत ॥६७॥

दण्डान्वयः - मातलिसारथिः तथा इति रघोः कामं प्रतिशुश्रुवान् यथागतं ययौ। सुदक्षिणासूनुः अपि नातिप्रमनाः नृपस्य सदोगृहं न्यवर्तत।

मातलिसारथिः = इन्द्रो रघोः सम्बन्धिनं कामं = मनोरथं तथेति = तथास्त्विति प्रतिशुश्रुवान्। "भाषायां सदवसश्रुवः" इति क्वसुप्रत्ययः। यथागतं ययौ। सुदक्षिणासूनुः = रघुरपि नातिप्रमनाः = विजयलाभेऽप्यश्वनाशान्नातीव तुष्टः सन्। नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। नृपस्य सदोगृहं प्रति न्यवर्तत ॥ ६७ ॥

टीका—इन्द्र, रघु के मनोरथ के सम्बन्ध में 'वैसा ही होगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके, जिस राह से आये थे, उसी मार्ग से गये। सुदक्षिणाकुमार रघु भी अनमना हो राजा दिलीप के सभास्थान की ओर लौटे ॥ ६७ ॥

तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम्॥

दण्डान्वयः—हरेः शासनहारिणा प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः तदीयं कुलिशव्रणाङ्कितम् अङ्गं हर्षजडेन पाणिना परामृशन् तम् अभ्यनन्दत्।

हरेः = इन्द्रस्य शासनहारिणा पुरुषेण प्रथमं प्रबोधितः = ज्ञापितः। वृत्तान्तमिति शेषः। प्रजेश्वरः = दिलीपो हर्षजडेन = हर्षशिशिरेण पाणिना कुलिशव्रणाङ्कितम्। तस्य रघोरिदं तदीयम्। अङ्गं = शरीरं परामृशंस्तं = रघुमभ्यनन्दत् ॥ ६८ ॥

टीका-इन्द्र की आज्ञा लानेवाले दूत से पहिले जाने हुए राजा दिलीप ने उस रघु के वज्र के घाव से चिह्नित शरीर को हर्ष से काँपते हुए हाथ से छूते हुए उसको प्रशंसा की ॥ ६८ ॥

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ॥६९॥

दण्डान्वयः—इति महनीयशासनः क्षितीशः आयुषः क्षये दिवं समारुरुक्षुः महाक्रतूनां नवाधिकां नवतिं-सोपानपरम्पराम्-इव ततान।

महनीयशासनः = पूजनीयाज्ञः क्षितीश इति=अनेन प्रकारेण। 'इति हेतुप्रकरणप्रकर्षादिसमाप्तिषु' इत्यमरः। महाक्रतूनाम् = अश्वमेधानां नवभिरधिकां नवतिम् = एकोनशतमायुषः क्षये सति दिवं = स्वर्गं समारुरुक्षुः = आरोढुमिच्छुः सोपानानां परम्परां पंक्तिमिव ततान ॥ ६९ ॥

टीका—इस प्रकार पूजनीय आज्ञावाले, पृथ्वीनाथ दिलीप ने, जीवन समाप्त होने पर स्वर्ग में चढ़ने की इच्छा करनेवाले की तरह, नौ अधिक नब्बे (९९) अश्वमेध यज्ञ की—सीढ़ियों की कतार की भाँति-रचना की ॥ ६९ ॥

१९३४ १९३७ अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥७०॥

दण्डान्वयः—अथ विषयव्यावृत्तात्मा सः यथाविधि यूने सूनवे नृपतिककुदं सितातपवारणं दत्त्वा तया देव्या सह मुनिवनतरुच्छायां शिश्रिये, गलितवयसाम् इक्ष्वाकूणाम् इदं हि कुलव्रतम्।

अथ विषयेभ्यो व्यावृत्तात्मा निवृत्तचित्तः सः = दिलीपो यथाविधि= यथाशास्त्रं यूने सूनवे नृपतिककुदं = राजचिह्नम् । 'ककुद्वत्ककुदं श्रेष्ठे नृपाङ्के राजलक्ष्मणि' इति विश्वः । सितातपवारणं = श्वेतच्छत्रं दत्त्वा तया देव्या = सुदक्षिणया सह मुनिवनतरोश्छायां शिश्रिये = श्रितवान् । वानप्रस्थाश्रमं स्वीकृतवानित्यर्थः । तथाहि । गलितवयसां = वृद्धानामिक्ष्वाकूणाम् = इक्ष्वाकोर्गोत्रापत्यानाम् । तद्राजसंज्ञकत्वादञो लुक् । इदं = वनगमनं कुलव्रतम् । देव्या सहेत्यनेन सपत्नीकवानप्रस्थाश्रमपक्ष उक्तः । तथा च याज्ञवल्क्यः—'सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम् । वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत् ॥' इति । हरिणीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्–'रसयुगहयैर्नसौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा' इति ॥७०॥

टीका—पश्चात् विषयवासना से विरक्त चित्तवाले राजा दिलीप ने शास्त्रविधि के अनुसार युवक पुत्र रघु को राजचिह्न, श्वेत छत्र देकर उस रानी (सुदक्षिणा) के साथ मुनियों के तपोवन के वृक्षों की छाया का आश्रय लिया (अर्थात् वानप्रस्थाश्रम को स्वीकार किया); क्योंकि ढलती हुई उम्रवाले (वृद्ध) इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं की यही कुलप्रथा थी ॥ ७० ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीवनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः ।

शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे ।
सर्वदा सर्वदाऽस्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात् ॥

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ ।
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ॥ १ ॥

दण्डान्वयः—सः गुरुणा दत्तं राज्यं–दिनान्ते सवित्रा निहितं तेजः हुताशनः इव–प्रतिपद्य अधिकं बभौ ।

सः = रघुर्गुरुणा = पित्रा दत्तं राज्यं = राज्ञः कर्म प्रजापरिपालनात्मकम् । पुरोहितादित्वाद्यक् । प्रतिपद्य = प्राप्य । दिनान्ते = सायङ्काले सवित्रा = सूर्येण निहितं तेजः प्रतिपद्य हुताशनः = अग्निरिव अधिकं बभौ । "सौरं तेजः सायमग्निं संक्रमते । आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निमनुप्रविशति । अग्निं वा आदित्यः सायं प्रविशति" इत्यादिश्रुतिः प्रमाणम् ॥ १ ॥

टीका—वह (रघु) पिता के दिए हुए राज्य को पाकर—सायङ्काल में सूर्य से स्थापित तेज को पाए हुए अग्नि की तरह—अधिक शोभित हुआ ॥ १ ॥

दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम् ।
पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥ २ ॥

दण्डान्वयः—दिलीपानन्तरं राज्ये प्रतिष्ठितं तं निशम्य राज्ञां हृदये पूर्वं प्रधूमितः अग्निः उत्थितः इव ।

दिलीपानन्तरं राज्ये प्रतिष्ठितम् = अवस्थितं तं = रघुं निशम्य = आकर्ण्य पूर्वं=दिलीपकाले राज्ञां हृदये प्रकर्षेण धूमोऽस्य सञ्जातः प्रधूमितोऽग्निः = सन्तापाग्निरुत्थित इव = प्रज्वलित इव । पूर्वेभ्योऽधिकसन्तापोऽभूदित्यर्थः । राजकर्तृकस्यापि निशमनस्याग्नावुपचाराद्न समानकर्तृकत्वविरोधः ॥ २ ॥

टीका—दिलीप के बाद राज्य पर बैठे हुए उस रघु को सुनकर राजाओं के हृदय में पहिले की धुआँ युक्त (धधकती) सन्तापाग्नि मानो जलने लगी ॥ २ ॥

पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः ।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥ ३ ॥

दण्डान्वयः—पुरुहूतध्वजस्य इव तस्य नवाभ्युत्थानदर्शिन्यः उन्नयनपङ्क्तयः सप्रजाः प्रजाः ननन्दुः ।

पुरुहूतध्वज इन्द्रध्वजः । स किल राजभिर्वृष्ट्यर्थं पूज्यत इत्युक्तं

भविष्योत्तरे—'एवं यः कुरुते यात्रामिन्द्रकेतोर्युधिष्ठिर ! पर्जन्यः कामवर्षी स्यात्तस्य राज्ये न संशयः ॥' इति । 'चतुरस्रं ध्वजाकारं राजद्वारे प्रतिष्ठितम् । आहुः शक्रध्वजं नाम पौरलोकसुखावहम् ॥' इति च । पुरुहूतध्वजस्येव तस्य = रघोर्नवमभ्युत्थानमभ्युन्नतिमभ्युद ं च पश्यन्तीति नवाभ्युत्थानदर्शिन्यः । उद्ध्वं प्रस्थिता उल्लसिताश्च नयनपङ्क्तयो यासां ताः सप्रजाः = स-सन्तानाः प्रजाः = जनाः । 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्युभयत्राप्यमरः । ननन्दुः ॥ ३ ॥

टीका—इन्द्र की पताका की तरह उसके नवीन वैभव को देखनेवाली, नयन समूहों को ऊपर करनेवाली, सन्तान सहित प्रजा आनन्दित हुई ॥ ३ ॥

१६१६ { सममेव समाक्रान्त द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥ ४ ॥

दण्डान्वयः—द्विरदगामिना तेन समम् एव द्वयं समाक्रान्तं पित्र्यं सिंहासनम् च अखिलं अरिमण्डलम् ।

द्विरद इव द्विरदैश्च गच्छतीति द्विरदगामिना । "कर्तुर्युपमाने" इति "सुप्यजातौ" इति च णिनिः । तेन = रघुणा समं = युगपदेव द्वयं समाक्रान्तम् = अधिष्ठितम् । किं तद्द्वयम् । पितुरागतं पित्र्यम् । "पितुर्यत्" इति यत्प्रत्ययः । सिंहासनम् । अखिलमरीणां मण्डलं राष्ट्रं च ॥ ४ ॥

टीका—उस गजगामी रघु ने एक साथ ही दोनों को आक्रान्त किया (दबाया)—(१) पिता से प्राप्त सिंहासन को, (२) सम्पूर्ण शत्रुमण्डल को ॥ ४ ॥

अथ सिंहासनारोहणानन्तरं तस्य लक्ष्मीसन्निधानमाह—

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम् ।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥ ५ ॥

दण्डान्वयः—स्वयम् अदृश्या पद्मा छायामण्डललक्ष्येण पद्मातपत्रेण साम्राज्यदीक्षितं तं भेजे किल ।

अत्र रघोस्तेजोविशेषेण स्वयं सन्निहितया लक्ष्म्या छत्रधारणं कृतमित्युत्प्रेक्षते। पद्मा = लक्ष्मीः। 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः। सा स्वयमदृश्या किल। किलेति सम्भावनायाम्। सती छायामण्डललक्ष्येण = कान्तिपुञ्जानुमेयेन। न तु स्वरूपतो दृश्येन। छायामण्डलमित्यनेनानातपज्ञानं लक्ष्यते। 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्युभयत्राप्यमरः। पद्मातपत्रेण = पद्ममेवातपत्रं तेन कारणभूतेन साम्राज्यदीक्षितं=साम्राज्ये साम्राज्यकर्मणि मण्डलाधिपत्ये दीक्षितमभिषिक्तं तं भेजे। अन्यथा कथमेतादृशी कान्तिसम्पत्तिरिति भावः॥५॥

टीका—स्वयं अप्रकट हुई लक्ष्मी, कान्तिमण्डल से अनुमान होनेवाले कमल रूपी छत्र से, साम्राज्य में अभिषिक्त रघु की सेवा करने लगी॥ ५॥

सम्प्रति सरस्वतीसान्निध्यमाह—

१६३० { परिकल्पितसान्निध्या काले काले च वन्दिषु।
स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती॥ ६॥

दण्डान्वयः—च सरस्वती काले काले वन्दिषु परिकल्पितसान्निध्या स्तुत्यं (तम्) अर्थ्याभिः स्तुतिभिः उपतस्थे।

सरस्वती च काले काले = सर्वेष्वपि योग्यकालेषु। "नित्यवीप्सयोः" इति वीप्सायां द्विर्वचनम्। वन्दिषु परिकल्पितसान्निध्या = कृतसन्निधाना सती स्तुत्यं = स्तोत्राहँ तं रघुम्। अर्थ्याभिः = अर्थादनपेताभिः। "धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते" इति यत्प्रत्ययः। स्तुतिभिः = स्तोत्रैरुपतस्थे। देवताबुद्ध्या पूजितवतीत्यर्थः। देवतात्वं च 'ना विष्णुः पृथिवीपतिः' इति वा, लोकपालात्मकत्वाद्वेत्यनुसन्धेयम्। एवं च सति * उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिषु * इति वक्तव्यादात्मनेपदं सिद्ध्यति॥ ६॥

टीका—और सरस्वती ने समय २ पर स्तुति पाठकों की निकटवर्तिनी होती हुई स्तुति करने के योग्य उस रघु को अर्थवती स्तुतियों से पूजन किया॥ ६॥

मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः ।
तथाऽप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्वसुन्धरा ॥ ७ ॥

दण्डान्वयः—वसुन्धरा यद्यपि मनुप्रभृतिभिः मान्यैः राजभिः भुक्ता तथापि तस्मिन् अनन्यपूर्वा इव आसीत् ।

वसुन्धरा मनुप्रभृतिभिः = मन्वादिभिर्मान्यैः = पूज्यैः राजभिर्भुक्ता यद्यपि । भुक्तैवेत्यर्थः । यद्यपीत्यवधारणे । 'अप्यर्थे यदिवार्थे स्यात्' इति केशवः । तथापि तस्मिन् = राज्ञि । अन्यः पूर्वो यस्याः साऽन्यपूर्वा । अन्यपूर्वा न भवतीत्यनन्यपूर्वा = अनन्योपभुक्तेवासीत् । तत्प्रथमपतिकेवानुरक्तवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

टीका—पृथ्वी यद्यपि मनु आदि पूजनीय राजाओं से भोगी गयी थी तो भी रघु में दूसरे से न भोगी गई हुई (कामिनी) की तरह अनुरक्त हुई ॥ ७ ॥

अत्र कारणमाह—

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः ।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥ ८ ॥

दण्डान्वयः—युक्तदण्डतया सः हि सर्वस्य लोकस्य मनः—नातिशीतोष्णः दक्षिणः नभस्वान् इव—आददे ।

हि=यस्मात्कारणात्सः = रघुर्युक्तदण्डतया = यथापराधदण्डतया सर्वस्य लोकस्य मन आददे = जहार । क इव ? अतिशीतोऽत्युष्णो वा न भवतीति नातिशीतोष्णः । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । दक्षिणः = दक्षिणदिग्भवो नभस्वान्=वायुरिव । मलयानिल इवेत्यर्थः । युक्तदण्डतायेत्यत्र कामन्दकः—'उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते । दण्डेन नृपतिस्तस्माद्युक्तदण्डः प्रशस्यते ॥' इति ॥ ८ ॥

टीका—क्योंकि अपराध के अनुसार दण्ड देने से रघु ने सब लोगों के मन को—न बहुत ठंढे और न बहुत गरम दक्षिण वायु (मलयानिल) के समान—हरण कर लिया ॥ ८ ॥

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिक्कतया गुरौ ।
१६३१ फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥६॥

दण्डान्वयः—गुणाधिक्कतया तेन प्रजाः गुरौ-सहकारस्य फलेन पुष्पोद्गमे इव-मन्दोत्कण्ठाः कृताः ।

तेन = रघुणा प्रजा गुरौ = दिलीपविषये । सहकारोऽतिसौरभश्चूतः । 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः । तस्य फलेन पुष्पोद्गमे=पुष्पोदय इव । ततोऽपि गुणाधिक्कतया हेतुना मन्दोत्कण्ठाः= अल्पौत्सुक्याः कृताः । गुणोत्तरश्चोत्तरो विषयः पूर्वं विस्मारयतीति भावः॥९॥

टीका—गुण की अधिकता से रघु ने प्रजा को पिता दिलीप के विषय में—जैसे बौर के निकलने के विषय में उस (बौर) की अपेक्षा अधिक गुण होने से आमका फल जनता को मन्द उत्कण्ठा वाला बना देता है उसी प्रकार—अल्प उत्सुकतावाला बना दिया (अर्थात् प्रजा दिलीप को भूल सी गयी) ॥ ९ ॥

नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम् ।
पूर्व एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥ १० ॥

दण्डान्वयः—नयविद्भिः नवे राज्ञि सत् च असत् उपदर्शितम् ; तस्मिन् पूर्वः एव पक्षः अभवत्, न उत्तरः ।

नयविद्भिः = नीतिशास्त्रज्ञैर्नवे तस्मिन्राज्ञि विषये । तमधिकृत्येत्यर्थः । सत् = धर्मयुद्धादिकमसत् = कूटयुद्धादिकं चोपदर्शितम् । तस्मिन् = राज्ञि पूर्वः पक्ष एवाभवत् । संक्रान्त इत्यर्थः । उत्तरः पक्षो नाभवत् । न संक्रान्त इत्यर्थः । तत्र सदसतोर्मध्ये सदेवाभिमतं नासत् । तदुद्भावनं तु ज्ञानार्थमेवेत्यर्थः । पक्षः साधनयोग्यार्थः । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति केशवः ॥ १० ॥

टीका—नीतिशास्त्रविशारदों ने नूतन महाराज के प्रति सद्धर्म (युद्धादि) और अधर्म (कूट नीति) दिखलाया । उस रघु में पहिला ही (धर्म) पक्ष ग्राह्य हुआ, दूसरा (अधर्म) पक्ष नहीं ॥१०॥

१६२६ { पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः ।
नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥ ११ ॥

दण्डान्वयः—पञ्चानाम् अपि भूतानां गुणाः उत्कर्षं पुपुषुः, तस्मिन् नवे महीपाले सर्वं नवम् इव अभवत् ।

पृथिव्यादीनां पञ्चानां भूतानामपि गुणाः = गन्धादय उत्कर्षम् = अतिशयं पुपुषुः । अत्रोत्प्रेक्षते—तस्मिन् = रघौ नाम नवे महीपाले सति सर्वं=वस्तुजातं नवमिवाभवत् । तदेव भूतजातमिदानीमपूर्वगुणयोगादपूर्वमिवाभवदिति भावः ॥ ११ ॥

टीका—पञ्च महाभूतों (पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश) के भी गुण (गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द) अत्यन्त पुष्ट हुए । उस नवीन महाराज रघु के राजा होने पर सब वस्तु नई सी हुई ॥ ११ ॥

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा ।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥१२॥

दण्डान्वयः—यथा चन्द्रः प्रह्लादनात् यथा तपनः प्रतापात् तथा एव सः राजा प्रकृतिरञ्जनात् अन्वर्थः अभूत् ।

यथा चन्दयत्याह्लादयतीति चन्द्रः = इन्दुः । चदिधातोरौणादिको रप्रत्ययः । प्रह्लादनाद् = आह्लादकरणादन्वर्थोऽनुगतार्थनामकोऽभूत् । यथा च तपतीति तपनः = सूर्यः । "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" इत्यनेन ल्युट्प्रत्ययः । प्रतापात् = सन्तापजननादन्वर्थः । तथैव स राजा प्रकृतिरञ्जनादन्वर्थः = सार्थकराजशब्दोऽभूत् । यद्यपि राजशब्दो राजतेर्दीप्त्यर्थात्कनिन्प्रत्ययान्तो न तु रञ्जेस्तथापि धातूनामनेकार्थत्वाद्रञ्जनाद्राजेत्युक्तं कविना ॥ १२ ॥

टीका—जैसे आनन्द देने से चन्द्रमा, जैसे सन्ताप देने से सूर्य (सार्थक नाम वाले हुए) उसी प्रकार वह राजा प्रजा को प्रसन्न करने से सार्थक नाम वाला हुआ ॥ १२ ॥

कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने ।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥१३॥

दण्डान्वयः—तस्य लोचने विशाले विशाले कर्णान्तविश्रान्ते कामम्; सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना शास्त्रेण तु चक्षुष्मत्ता।

विशाले तस्य = रघोर्लोचने कामं कर्णान्तयोर्विश्रान्ते कर्णप्रान्तगते। चक्षुष्मत्ता तु = चक्षुःफलं त्वित्यर्थः। सूक्ष्मान् कार्यार्थान् कर्तव्यार्थान् दर्शयति प्रकाशयतीति सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना शास्त्रेणैव। शास्त्रं दृष्टिर्विवेकिनामिति भावः॥ १३॥

टीका—माना कि उसकी आँखें बड़ी थीं और कान तक फैली हुई थीं; लेकिन राजकीय कार्यों की बारी की बतलानेवाले शास्त्र से ही वह अपने को आँखवाला मानता था॥ १३॥

१९१७ { लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता। पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा॥१४॥

दण्डान्वयः—अथ लब्धप्रशमनस्वस्थम् एनं पङ्कजलक्षणा शरत्-द्वितीया पार्थिव-श्रीः इव-समुपस्थिता।

अथ लब्धस्य राज्यस्य प्रशमनेन परिपन्थिनामनुरञ्जनप्रतीकाराभ्यां स्थिरीकरणेन स्वस्थं समाहितचित्तमेनं = रघुं पङ्कजलक्षणा = पद्मचिह्ना। श्रियोऽपि विशेषणमेतत्। शरत्। द्वितीया पार्थिवश्रीः = राजलक्ष्मीरिव। समुपस्थिता = प्राप्ता। 'रक्षा पौरजनस्य देशनगरग्रामेषु गुप्तिस्तथा योधानामपि संग्रहोऽथ तुलया मानव्यवस्थापनम्। साम्यं लिङ्गिषु दानवृत्तिकरणं त्यागः समानेऽर्चनं कार्याण्येव महीभुजां प्रशमनान्येतानि राज्ये नवे'॥

टीका—तदनन्तर प्राप्त राज्यकी यथोचित रक्षा करने से शान्त चित्तवाले उस रघु को कमल चिह्नवाली शरद् ऋतु—दूसरी राज्यलक्ष्मी की तरह—आयी॥ १४॥

निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः।
प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद्व्यानशे दिशः॥ १५॥

दण्डान्वयः—तस्य च भानोः निर्वृष्टलघुभिः मेघैः मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः प्रतापः युगपत् दिशः व्यानशे।

निःशेषं वृष्टा निर्वृष्टाः । कर्तरि क्तः । अत एव लघवः । तैर्मेघैर्मुक्त-वर्त्मा = त्यक्तमार्गः । अत एव सुदुःसहः । तस्य = रघोर्भानोश्च प्रतापः = पौरुषमातपश्च । 'प्रतापौ पौरुषातपौ' इति यादवः । युगपद्दिशो व्यानशे = व्याप ॥ १५ ॥

टीका—उसके और सूर्य के, पानी बरसा चुकने से हलके हुए बादलों से राह छोड़े हुए, अत्यन्त दुःसह प्रताप ने एक साथ ही दिशाओं को व्याप्त कर लिया ॥ १५ ॥

१९२६ { वार्षिकं सज्जहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ ।
प्रजार्थसाधने-तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ ॥ १६ ॥

दण्डान्वयः—इन्द्रः वार्षिकं धनुः सज्जहार, रघुः जैत्रं (धनुः) दधौ । तौ हि प्रजार्थसाधने पर्यायोद्यतकार्मुकौ ।

इन्द्रः । वर्षासु भवं वार्षिकम् । वर्षानिमित्तमित्यर्थः । 'वर्षाभ्यष्ठक्' इति ठक्प्रत्ययः । धनुः सज्जहार । रघुर्जैत्रं=जयशीलम् । जेतृशब्दात्तन्नन्तात् "प्रज्ञादिभ्यश्च" इति स्वार्थेऽणप्रत्ययः । धनुर्दधौ । हि=यस्मात्तौ =इन्द्ररघू प्रजानामर्थस्य प्रयोजनस्य वृष्टिविजयलक्षणस्य साधनविषये पर्यायेणोद्यते कार्मुके याभ्यां तौ पर्यायोद्यतकार्मुकौ । 'पर्यायोद्यमविश्रमौ' इति पाठान्तरे पर्यायेणोद्यमो विश्रमश्च ययोस्तौ पर्यायोद्यमविश्रमौ । द्वयोः पर्यायकरणादक्लेश इति भावः ॥ १६ ॥

टीका—इन्द्र ने वर्षा के निमित्त धनुष को धारण किया । रघु ने विजय करनेवाली धनुष उठायी । इस प्रकार वे दोनों प्रजा के कार्य-साधन में (१ वर्षा के होने, २ दिग्विजय के करने) में बारी-बारी से धनुषधारी हुए ॥ १६ ॥

पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः ।
ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥ १७ ॥

दण्डान्वयः—पुण्डरीकातपत्रः विकसत्काशचामरः ऋतुः तं विडम्बयामास तच्छ्रियं पुनः न प्राप ।

पुण्डरीकं सिताम्भोजमेवातपत्रं यस्य स तथोक्तः। विकसन्ति काशानि काशाख्यतृणकुसुमान्येव चामराणि यस्य स तथोक्तः। ऋतुः= शरद्ऋतुः। पुण्डरीकनिभातपत्रं काशनिभचामरं तं=रघुं विडम्बयामास=अनुचकार। तस्य रघोः श्रियं पुनः शोभां तु न प्राप। 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव दृश्यते' इति शाश्वतः ॥ १७ ॥

टीका--सफेद कमल रूपी छत्रवाली, खिले हुए कास रूपी चँवरवाली शरद् ऋतु ने उस रघु का अनुकरण किया। किन्तु रघु की शोभा को न पा सकी ॥ १७ ॥

प्रसादसुमुखे तस्मिंश्चन्द्रे च विशदप्रभे ।
तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः ॥ १८ ॥

दण्डान्वयः—प्रसादसुमुखे तस्मिन् च विशदप्रभे चन्द्रे द्वयोः तदा चक्षुष्मतां प्रीतिः समरसा आसीत्।

प्रसादेन सुमुखे तस्मिन्=रघौ विशदप्रभे=निर्मलकान्तौ चन्द्रे च द्वयोर्विषये तदा चक्षुष्मतां प्रीतिः=अनुरागः समरसा=समस्वादा। तुल्यभोगेति यावत्। 'रसो गन्धे रसः स्वादे इति विश्वः। आसीत् ॥१८॥

टीका—कृपा करने से सुन्दर मुँह वाले उस रघु और निर्मल कान्तिवाले चन्द्रमा-इन दोनों के प्रति उस समय आँखवालों की प्रीति समान रस लेनेवाली हुई ॥ १८ ॥

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु ।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥ १९ ॥

दण्डान्वयः—हंसश्रेणीषु तारासु च कुमुद्वत्सु वारिषु तदीयानां यशसां विभूतयः पर्यस्ताः इव।

हंसानां श्रेणीषु पंक्तिषु। तारासु=नक्षत्रेषु। कुमुदानि येषु सन्तीति कुमुद्वन्ति। 'कुमुद्वान्कुमुदप्राये' इत्यमरः। "कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्। तेषु। कुमुदप्रायेष्वित्यर्थः। वारिषु च तदीयानां=रघुसम्बन्धिनां यशसां विभूतयः=सम्पदः पर्यस्ता इव=प्रसारिताः किम्। इत्युत्प्रेक्षा। अन्यथा कथमेषां धवलिमेति भावः ॥ १९ ॥

टीका—हंसों की पंक्तियों में, ताराओं में और कमल (कोई) वाले जलों में मानों उसकी कीर्ति की (सफेदी रूपी) विभूति फैली हुई थी ॥ १९ ॥

१९१२ { इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ २० ॥

दण्डान्वयः—इक्षुच्छायनिषादिन्यः शालिगोप्यः गोप्तुः तस्य गुणोदयम् आकुमारकथोद्घातं यशः जगुः ।

इक्षूणां छायेक्षुच्छायम् । "छाया बाहुल्ये" इति नपुंसकत्वम् । तत्र निषण्णा इक्षुच्छायनिषादिन्यः । 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' इति स्त्रीलिङ्गपाठे इक्षोरिछायेति विग्रहः । अन्यथा बहुत्वे नपुंसकत्वप्रसङ्गात् । शालीन्गोपायन्ति रक्षन्तीति शालिगोप्यः = सस्यपालिकाः स्त्रियः । "कर्मण्यण्" । "टिड्ढाणञ्०" इत्यादिना ङीप् । गोप्तुः=रक्षकस्य तस्य = रघोः । गुणेभ्य उदयो यस्य तद्गुणोदयं=गुणोत्पन्नमाकुमारं कुमारादारभ्य कथोद्घातः कथारम्भो यस्य तत् । कुमारैरपि स्तूयमानमित्यर्थः । यशो जगुः=गायन्ति स्म । अथवा कुमारस्य सतो रघोर्याः कथा इन्द्रविजयादयस्तत आरभ्याकुमारकथम् । तत्राप्यभिविधावव्ययीभावः । आकुमारकथमुद्घातो यस्मिन्कर्मणि । गानक्रियाविशेषणमेतत् । 'स्यादभ्यादानमुद्घात आरम्भः' इत्यमरः । 'आकुमारकथोद्भूतम्' इति पाठे कुमारस्य सतस्तस्य कथाभिश्चरितैरुद्भूतं यद्यशस्तद्यश आरभ्य यशो जगुरितिव्याख्येयम्॥२०॥

टीका—ईख की छाया में बैठी हुई धान की रखवाली करने वाली कृषक स्त्रियाँ रक्षा करने वाले उस रघु के सद्गुणों से उत्पन्न आबाल प्रसिद्ध यश को गाया करती थीं ॥ २० ॥

१९३० { प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः ।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः ॥ २१ ॥

दण्डान्वयः—महौजसः कुम्भयोनेः उदयात् अम्भः प्रससाद, (महौजसः) रघोः (उदयात्) द्विषताम् अभिभवाशङ्कि मनः चुक्षुभे ।

महौजसः कुम्भयोनेः=अगस्त्यस्य । 'अगस्त्यः कुम्भसम्भवः' इत्यमरः । उदयादम्भः प्रससाद=प्रसन्नं बभूव । महौजसो रघोरुदयादभिभवाशङ्कि द्विषतां मनश्चुक्षुभे=कालुष्यं प्राप । 'अगस्त्योदये जलानि प्रसीदन्ति' इत्यागमः ॥ २१ ॥

टीका—प्रतापी अगस्त्य (नक्षत्र) के उदय होनेसे जल स्वच्छ हुआ । महापराक्रमी रघु के अभ्युदय से वैरियों का पराभव (हार) की आशङ्का करने वाला मन मलीन होगया ॥ २१ ॥

मदोद्ग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्वृजाः ।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥ २२ ॥

दण्डान्वयः—मदोद्ग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्वृजाः महोक्षाः तस्य लीलाखेलं विक्रमम् अनुप्रापुः ।

मदोद्ग्राः=मदोद्धताः । ककुदेषामस्तीति ककुद्मन्तः । महाककुद इत्यर्थः । यवादित्वान्मकारस्य वत्वाभावः । सरितां कूलान्युद्वृजन्तीति कूलमुद्वृजाः । "उदि कूले रुजिवहोः" इति खश्प्रत्ययः । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इत्यनेन मुमागमः । महान्त उक्षाणो महोक्षाः । "अचतुर०" इत्यादिना निपातनादकारान्तः । लीलाखेलं=विलाससुभगं तस्य=रघोरुत्साहवतो वपुष्मतः परभङ्गकस्य विक्रमं=शौर्यमनुप्रापुः=अनुचक्रुः ॥२२॥

टीका—मदमाते, विपुल कन्धावाले, नदियों के किनारों को खोदने वाले बैलों ने उसके विहारक्रीडा वाले पराक्रम का अनुकरण किया ॥ २२ ॥

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।
असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः ॥ २३ ॥

दण्डान्वयः—सप्तपर्णानां मदगन्धिभिः प्रसवैः आहताः तन्नागाः-असूयया इव सप्तधा एव प्रसुस्रुवुः ।

मदस्येव गन्धो येषां तैर्मदगन्धिभिः । "उपमानाच्च" इतीकारः समासान्तः । सप्तपर्णानां=वृक्षविशेषाणाम् । 'सप्तपर्णो विशालत्वक्शा-

रदो विषमच्छदः' इत्यमरः । प्रसवैः=पुष्पैराहतास्तस्य रघोर्नागा गजाः । 'गजेऽपि नागमातङ्गौ' इत्यमरः । असूययेव=आहतिनिमित्तया स्पर्धयेव सप्तधैव प्रसुस्रुवुः=मदं वहुपुः । प्रतिगजगन्धाभिमानादिति भावः। करात्कटाभ्यां मेढाच्च नेत्राभ्यां च मदस्रुतिः' इति पालकाप्ये । करान्नासारन्ध्राभ्यामित्यर्थः ॥ २३ ॥

टीका—छतिवन के हाथी के मद के समान गन्धवाले फूलों से ताड़ित हुए रघु के हाथी—मानो डाह से—सात तरह (सातो अङ्गों) से मद बरसाने लगे ॥ २३ ॥

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान् ।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥२४॥

दण्डान्वयः—सरितः गाधाः कुर्वती च पथः आश्यानकर्दमान् (कुर्वती) शरत् शक्तेः प्रथमं तं यात्रायै चोदयामास ।

सरितो गाधाः = सुप्रतराः कुर्वती । पथः = मार्गाश्चाश्यानकर्दमान् = शुष्कपङ्कान्कुर्वती । "संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः" इति श्यतेर्निष्ठातस्य नत्वम् । शरत् = शरदृतुस्तं = रघुं शक्तेः = उत्साहशक्तेः प्रथमं = प्राग्-यात्रायै = दण्डयात्रायै चोदयामास=प्रेरयामास । प्रभावमन्त्रशक्तिसम्पन्नस्य शरत्स्वयमुत्साहमुत्पादयामासेत्यर्थः ॥ २४ ॥

टीका—नदियों को आसानी से पार जाने लायक करती हुई और राह के कीचड़ को सुखाती हुई शरदृतु ने उत्साह शक्ति होने के पहिले रघु को (दिग्विजय) यात्रा के लिये प्रेरणा की ॥२४॥

तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।
प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥ २५ ॥

दण्डान्वयः—वाजिनीराजनाविधौ सम्यक् हुतः वह्निः—प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेन इव-तस्मै जयं ददौ ।

वाजिनामश्वानां नीराजनाविधौ नीराजनाख्ये शान्तिकर्मणि सम्यग् = विधिवद्हुतः = होमसमिद्धो वह्निः । प्रगता दक्षिणं प्रदक्षिणम् ।

तिष्ठद्गुप्रभृतित्वादव्ययीभावः । प्रदक्षिणं याऽर्चिर्ज्वाला तस्या व्याजेन हस्तेनेव तस्मै जयं ददौ । उक्तमाहवयात्रायाम्-'इद्धः प्रदक्षिणगतो हुत-भुङ्नृपस्य धात्रीं समुद्ररशनां वशगां करोति' इति । वाजिग्रहणं गजादीनामप्युपलक्षणं तेषामपि नीराजनाविधानात् ॥ २५ ॥

टीका—घोड़ों के नीराजन नामक शान्तिकर्म में विधिवत् हवन को गई अग्नि ने-दक्षिण की ओर घूम कर उठी हुई ज्वाला के बहाने मानो हाथ से-उसको विजय दिया ॥ २५ ॥

१९२१ १९२८ १९३९ स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः । षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥२६॥

दण्डान्वयः—गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिः अयान्वितः सः षड्विधं बलम् आदाय दिग्जिगीषया प्रतस्थे ।

गुप्तौ मूलं स्वनिवासस्थानं प्रत्यन्तः प्रान्तदुर्गं च येन स गुप्तमूल-प्रत्यन्तः । शुद्धपार्ष्णिः = उद्धृतपृष्ठशत्रुः सेनया रक्षितपृष्ठदेशो वा । अयान्वितः = शुभदैवान्वितः । 'अयः शुभावहो विधिः' इत्यमरः । सः = रघुः षड्विधं = मौलभृत्यादिरूपं बलं=सैन्यम् । 'मौलं भृत्यः सुहृच्छ्रेणी द्विपदाटविकं बलम्' इति कोशः । आदाय दिशां जिगीषया जेतुमिच्छया प्रतस्थे = चचाल ॥ २६ ॥

टीका—महल और दुर्गों की रक्षा का प्रबन्ध कर चुकने वाले, पृष्ठदेशस्थ राजाओं का उन्मूलन कर लेने वाले और यात्रा समय मङ्गलाचरण कर चुकने वाले रघु ने छ प्रकार की सेना लेकर, दिग्विजय की इच्छा से, प्रस्थान किया ॥ २६ ॥

अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः ।
पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम् ॥२७॥

दण्डान्वयः—वयोवृद्धाः पौरयोषितः लाजैः तं-क्षीरोर्मयः मन्दरोद्धूतैः पृषतैः अच्युतम् इव-अवाकिरन् ।

वयोवृद्धाः पौरयोषितस्तं = रघुं प्रयान्तं लाजैः = आचारलाजैः ।

मन्दरोद्धूतैः पृषतैः = बिन्दुभिः क्षीरोर्मयः = क्षीरसमुद्रोर्मयोऽच्युतं = विष्णुमिव । अवाकिरन् = पर्यक्षिपन् ॥ २७ ॥

टीका—नगर की बूढ़ी औरतों ने धान के लावों से रघु के ऊपर—क्षीरसागर की लहरों ने मन्दराचल मथे जाने से उठी हुई छींटा से जिस प्रकार विष्णुभगवान् के ऊपर वर्षा की थी—उसी प्रकार वर्षा की ॥ २७ ॥

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा ।
अहितानिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥ २८ ॥

दण्डान्वयः—प्राचीनबर्हिषा तुल्यः सः अनिलोद्धूतैः केतुभिः—अहितान् तर्जयन् इव—प्रथमं प्राचीं ययौ ।

प्राचीनबर्हिर्नाम कश्चिन्महाराज इति केचित् । प्राचीनबर्हिरिन्द्रः । 'पर्जन्यो मघवा वृषा हरिहयः प्राचीनबर्हिः स्मृतः' इतीन्द्रपर्यायेषु हलायुधाभिधानात् । तेन तुल्यः सः = रघुः । अनिलेनानुकूलवातेनोद्धूतैः केतुभिः = ध्वजैरहितान् = रिपूंस्तर्जयन्निव = भर्त्सयन्निव । तर्जिभर्त्स्योरनुदात्तेत्त्वेऽपि चक्षिङो ङित्करणेनानुदात्तेत्त्वनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनात्परस्मैपदमिति वामनः । प्रथमं प्राचीं दिशं ययौ ॥ २८ ॥

टीका—प्राचीन बर्हिष राजा (या इन्द्र) के समान रघु पवन से फहराती हुई पताकाओं से—शत्रुओं को मानों डरवाते हुए—पहिले पूर्व दिशा की ओर गये ॥ २८ ॥

रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः ।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥ २९ ॥

दण्डान्वयः—स्यन्दनोद्धूतैः रजोभिः च घनसन्निभैः गजैः—व्योम भुवस्तलम् इव—च—भूतलं व्योम इव—कुर्वन् (ययौ) ।

किं कुर्वन् । स्यन्दनोद्धूतै रजोभिर्घनसन्निभैः = वर्णतः क्रियातः परिमाणतश्च मेघतुल्यैर्गजैश्च यथाक्रमं व्योम = आकाशं भुवस्तलमिव भूतलं च व्योमेव कुर्वन् । ययाविति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ २९ ॥

टीका—रथों द्वारा उठी हुई धूल से और (रंग, गरजने और आकार में) बादल के समान हाथियों से—आकाश को धरती की तरह और धरणीतल को आसमान की तरह—करता हुआ (चला)।

प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम् ।
ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः ॥ ३० ॥

दण्डान्वयः—अग्रे प्रतापः, ततः शब्दः, तदनन्तरं परागः, पश्चात् रथादि इति-चतुःस्कन्धा इव सा चमूः ययौ ।

अग्रे प्रतापः = तेजोविशेषः। 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः। ततः शब्दः = सेनाकलकलः। तदनन्तरं परागः = धूलिः। 'परागः पुष्परजसि धूलिस्नानीययोरपि' इति विश्वः । पश्चाद्रथादि = रथाश्वादिकं चतुरङ्गबलम् । 'रथानीकम्' इति पाठ इतिशब्दाध्याहारेण योज्यम् । इति=इत्थं चतुःस्कन्धेव=चतुर्व्यूहेव । 'स्कन्धः प्रकाण्डे कायेऽसे विज्ञानादिषु पञ्चसु । नृपे समूहे व्यूहे च' इति हैमः । सा चमूर्ययौ ॥३०॥

टीका—आगे आगे रघु का प्रताप, बाद में सेना का कोलाहल शब्द, तब धूलि, और फिर उसके बाद रथ आदि इस तरह-चतुर्व्यूह की तरह-वह सेना चली ॥ ३० ॥

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः ।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥ ३१ ॥

दण्डान्वयः—शक्तिमत्त्वात् सः मरुपृष्ठानि उदम्भांसि, नाव्याः नदीः सुप्रतराः, च विपिनानि प्रकाशानि चकार ।

सः = रघुः शक्तिमत्त्वात् = समर्थत्वान्मरुपृष्ठानि = निर्जलस्थानानि । 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यमरः । उदम्भांसि = उद्भूतजलानि चकार । नाव्याः = नौभिस्तार्या नदीः । 'नाव्यं त्रिलिङ्गं नौतार्ये' इत्यमरः । "नौवयोधर्मविषमूलसीतातुलाभ्यः" इत्यादिना यत्प्रत्ययः सुप्रतराः = सुखेन तार्याश्चकार । विपिनानि=अरण्यानि । 'अटव्यरण्यं विपिनम्' इत्यमरः । प्रकाशानि = निर्वृक्षाणि चकार । शक्त्युत्कर्षात्तस्यागम्यं किमपि नाभीदिति भावः ॥ ३१ ॥

टीका-शक्तिमान होने से रघु ने जल रहित प्रदेशों (रेगिस्तानों) को जल से युक्त, नाव से पार होनेवाली नदियों को आसानी से पार होने लायक (पुल, बाँध) और जंगलों को प्रकाश युक्त (कटवाकर साफ) कर दिया ॥ ३१ ॥

३१२५ { स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम् ।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥ ३२ ॥

दण्डान्वयः—पूर्वसागरगामिनीं महतीं सेनां कर्षन् सः-हरजटाभ्रष्टां गङ्गां (कर्षन्) भगीरथः इव-बभौ ।

महतीं सेनां पूर्वसागरगामिनीं कर्षन् सः = रघुः । हरस्य जटाभ्यो भ्रष्टां गङ्गां कर्षन् । सापि पूर्वसागरगामिनी । भगीरथ इव बभौ । भगीरथो नाम कश्चित्कपिलदग्धानां सागराणां नप्ता तत्पावनाय हरकिरीटाद्गङ्गां अवर्तयिता राजा । यत्सम्बन्धाद्गङ्गा च भागीरथीति गीयते ॥३२॥

टीका—पूर्व समुद्र की ओर जानेवाली बड़ी सेना को ले जाते हुए वे रघु-शिवजी की जटा से निकली हुई (पूर्वसागरगामिनी) गङ्गा को ले जाते हुए महाराज भगीरथ की तरह-शोभित हुए ॥३२॥

त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः ।
तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥ ३३ ॥

दण्डान्वयः—फलं त्याजितैः उत्खातैः बहुधा भग्नैः पादपैः च नृपैः—दन्तिनः इव-तस्य मार्गः उल्बणः आसीत् ।

'फलं फले धने बीजे निष्पत्तौ भोग-लाभयोः' इति केशवः । फलं = लाभम् । वृक्षपक्षे प्रसवं च । त्याजितैः । त्यजेर्ण्यन्तादुद्विकर्मकादप्रधाने कर्मणि क्तः । उत्खातैः = स्वपदाच्च्याचितैः । अन्यत्रोत्पाटितैः । बहुधा भग्नैः = रणे जितैः । अन्यत्र छिन्नैः नृपैः । पादपैर्दन्तिनः = गजस्येव । तस्य = रघोर्मार्गः उल्बणः = प्रकाश आसीत् । 'प्रकाशं प्रकटं स्पष्टमुल्बणं विशदं स्फुटम्' इति यादवः ॥ ३३ ॥

टीका—लाभ से वञ्चित, राज्यपद से च्युत, विविध प्रकार से

युद्ध में पराजित वैरी राजाओं से—फल से वञ्चित, जड़ से उखाड़े गए, तोड़-मरोड़ दिए गए वृक्षों से जिस प्रकार हाथी का मार्ग साफ हो जाता है उसी प्रकार—रघु का मार्ग निष्कण्टक हुआ ॥ ३३ ॥

पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्तानञ्जनपदाञ्जयी ।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥ ३४ ॥

दण्डान्वयः—जयी सः एवं पौरस्त्यान् तान् तान् जनपदान् आक्रामन् तालीवनश्यामं महोदधेः उपकण्ठं प्राप ।

जयी = जयनशीलः । "जिदृक्षिविश्री०" इत्यादिनेनिप्रत्ययः । स रघुरेवम् । पुरो भवान्पौरस्त्यान् = प्राच्यान् । "दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्" इति त्यक्प्रत्ययः । तांस्तान् । सर्वानित्यर्थः । वीप्सायां द्विरुक्तिः । जनपदान्= देशानाक्रामंस्तालीवनैः श्यामं महोदधेरुपकण्ठम् = अन्तिकं प्राप ॥३४॥

टीका—विजयी रघु इस प्रकार पूर्व के सब देशों को दबाता हुआ (जीतता हुआ) ताली (एक प्रकार का छोटा ताड़ जो बंगाल और बर्मा में होता है) के वनों से श्यामरंगवाले महासागर के किनारे पर पहुँचा ॥ ३४ ॥

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव ।
आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥३५॥

दण्डान्वयः—अनम्राणां समुद्धर्तुः तस्मात्-सिन्धुरयात् इव-सुह्मैः वैतसीं वृत्तिम् आश्रित्य आत्मा संरक्षितः ।

अनम्राणाम् । कर्मणि षष्ठी । समुद्धर्तुः = उन्मूलयितुस्तस्माद्=रघोः सकाशात् । "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । सिन्धुरयात् = नदीवेगादिव सुह्मैः = सुह्मदेशीयैः । सुह्मादयः शब्दा जनपदवचनाः क्षत्रियमाचक्षते । वैतसीं = वेतसः सम्बन्धिनीं वृत्तिम् । प्रणतिमित्यर्थः । आश्रित्य आत्मा संरक्षितः । अत्र कौटिल्यः—'बलीयसाऽभियुक्तो दुर्बलः सर्वत्रानुप्रणतो वेतसधर्ममातिष्ठेत्' इति ॥ ३५ ॥

टीका—उद्दण्ड लोगों को उखाड़नेवाले उस रघु से—(न झुकने

वाले पादपों को उखाड़ने वाले) नदी के वेग से-सुह्म देशीय (वर्द्धमान, बाँकुड़ा, वीरभूम आदि बङ्गाल प्रान्त के ज़िले के) राजाओं ने बेतों की वृत्ति (झुकजाना) का आश्रय लेकर अपनेको बचाया॥३५॥

वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोन्तरेषु सः ॥ ३६ ॥

दण्डान्वयः—नौसाधनोद्यतान् वङ्गान् तरसा उत्खाय नेता सः गङ्गास्रोतोन्तरेषु जयस्तम्भान् निचखान ।

नेता=नायकः सः=रघुर्नौभिः साधनैरुद्यतान् सन्नद्धान् वङ्गान् राज्ञस्तरसा=बलेन । 'तरसी बलरंहसी' इति यादवः । उत्खाय=उन्मूल्य गङ्गायाः स्रोतसां प्रवाहाणामन्तरेषु द्वीपेषु जयस्तम्भान्निचखान । स्थापितवानित्यर्थः ॥ ३६ ॥

टीका—जङ्गी बेड़ों से युद्ध के लिए सुसज्जित बंगदेशीय (पूर्वीय बङ्गाल के) राजाओं को बलपूर्वक उखाड़ (जीत) कर सेना नायक रघु ने गंगा के प्रवाहों के बीच टापुओं में अपने विजय स्तम्भों को गाड़ दिया ॥ ३६ ॥

१९११ १९१८ १९२८ आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ ३७ ॥

दण्डान्वयः—आपादपद्मप्रणताः उत्खातप्रतिरोपिताः-ते-कलमाः इव रघुं फलैः संवर्धयामासुः ।

आपादपद्ममंघ्रिपद्मपर्यन्तं प्रणताः । अत एवोत्खाताः पूर्वमुद्धृता अपि प्रतिरोपिताः पश्चात्स्थापितास्ते=वङ्गाः । कलमा इव=शालिविशेषा इव । 'शालयः कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च पुंस्यमी' इत्यमरः । तेऽप्यापादपद्मं पादपद्ममूलपर्यन्तं प्रणताः । 'पादो बुध्ने तुरीयांशशैलप्रत्यन्तपर्वतः' इति विश्वः । उत्खातप्रतिरोपिताश्च । रघुं फलैः=धनैः । अन्यत्र सस्यैः । संवर्धयामासुः । 'फलं फले धने बीजे निष्पत्तौ भोगलाभयोः । सस्ये' इति केशवः ॥ ३७ ॥

टीका—चरण कमल पर्यन्त झुके हुए, उखाड़ कर फिर गद्दी पर बैठाये गये बंगदेशीय राजाओं ने—(कमल तुल्य जड़ तक झुके हुये, पहिले स्थान से उखाड़े गए दूसरे स्थान पर लगाये गये) साठी धान के समान (फलों से किसान को) धन द्वारा रघु को परिपूर्ण कर दिया ॥ ३७ ॥

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः ।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

दण्डान्वयः— सः बद्धद्विरदसेतुभिः सैन्यैः कपिशां तीर्त्वा उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखः ययौ ।

सः = रघुर्बद्धा द्विरदा एव सेतवो यैस्तैः सैन्यैः कपिशां नाम नदीं तीर्त्वा । 'करभाम्' इति केचित्पठन्ति । उत्कलै राजभिरादर्शितपथः संदर्शितमार्गः सन् कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

टीका—वह हाथियों से पुल बँधवायी गयी सेना से कपिशा नदी (मेदिनीपुर के दक्षिण में बहनेवाली कसाई नदी) को पार कर उत्कल (उड़ीसा, ताम्रलिप्ती नदी के दक्षिण किनारे पर बसा है और कपिशा नदी तक चला गया है) देशीय राजाओं से मार्ग दिखाया हुआ कलिंगदेश (उड़ीसा से दक्षिण, गोदावरी नदी के मुहाने पर स्थित) की ओर चला ॥ ३८ ॥

१९१३ { स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत् ।
अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥ ३९ ॥

दण्डान्वयः— सः महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं प्रतापं—यन्ता गम्भीरवेदिनः द्विरदस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं अंकुशम्—इव न्यवेशयत ।

सः = रघुर्महेन्द्रस्य = कुलपर्वतविशेषस्य । 'महेन्द्रो मलयः सह्यः सक्तिमानृक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥' इति विष्णुपुराणात् । मूर्ध्नि तीक्ष्णं = दुःसहं प्रतापम् । यन्ता = सारथिर्गम्भीरवेदिनो द्विरदस्य = गजविशेषस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं=निशितमङ्कुशमिव

न्यवेशयत् = निक्षिप्तवान्। 'त्वग्भेदाच्छोणितस्रावान्मांसस्य क्थनादपि। आत्मानं यो न जानाति स स्याद्गम्भीरवेदिता॥' इति राजपुत्रीये। 'चिरकालेन यो वेत्ति शिक्षां परिचितामपि। गम्भीरवेदी विज्ञेयः स गजो गजवेदिभिः॥' इति मृगचर्मीये॥ ३९॥

टीका—उसने महेन्द्र पर्वत (पूर्वीघाट पर्वत का उत्तरी भाग) की चोटी पर अपने प्रबल प्रताप को—जिस प्रकार महावत गम्भीर-वेदी नामक (मत्त हस्ती विशेष) हाथी के मस्तक पर तीखे अंकुश रखता है उसी प्रकार—रक्खा॥ ३९॥

प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः॥ ४०॥

दण्डान्वयः—तं गजसाधनः कालिङ्गः अस्त्रैः पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं-शिलावर्षी पर्वतः इव-प्रतिजग्राह।

गजसाधनः सन् कालिङ्गः = कलिङ्गानां राजा। "द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्" इत्यनेनाण्प्रत्ययः। अस्त्रैः = आयुधैस्तं = रघुम्। पक्षाणां छेद उद्यतमुद्युक्तं शक्रं शिलावर्षी पर्वत इव। प्रतिजग्राह=प्रत्यभियुक्तवान्॥ ४०॥

टीका—उस रघु का हाथी साधन वाले कलिङ्गराजा ने हथियारों से—पंख काटने में तत्पर इन्द्रका जिस प्रकार पत्थर बरसाने वाले पर्वतों ने सामना किया था उसी प्रकार—मोर्चा लिया॥४०॥

द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम्।
सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम्॥ ४१॥

दण्डान्वयः—तत्र द्विषां नाराचदुर्दिनं विषह्य काकुत्स्थः-सन्मङ्गलस्नात इव-जयश्रियं प्रतिपेदे।

काकुत्स्थः = रघुस्तत्र=महेन्द्राद्रौ द्विषां नाराचदुर्दिनं=नाराचानां बाणविशेषाणां दुर्दिनम्। लक्षणया वर्षमुच्यते। विषह्य = सहित्वा सद्-यथाशास्त्रं मङ्गलस्नात इव = विजयमङ्गलार्थमभिषिक्त इव जयश्रियं प्रतिपेदे = प्राप। 'यत्तु सर्वौषधिस्नानं तन्माङ्गल्यमुदीरितम्' इतियादवः॥४१॥

टीका—उस महेन्द्र पर्वत पर शत्रुओं के तीरों की घोर वर्षा को सहकर ककुत्स्थवंशीय रघुने—शास्त्रोक्त रीति से विजय मङ्गल के निमित्त स्नान किए हुए की भाँति-विजय लक्ष्मी पायी ॥ ४१ ॥

ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ ४२ ॥

दण्डान्वयः—तत्र रचितापानभूमयः योधाः नारिकेलासवं च शात्रवं यशः ताम्बूलीनां दलैः पपुः ।

तत्र=महेन्द्राद्रौ=युध्यन्त इति योधाः । पचाद्यच् । रचिताः कल्पिता आपानभूमयः पानयोग्यप्रदेशा यैस्ते तथोक्ताः सन्तो नारिकेलासवं = नारिकेलमद्यं ताम्बूलीनां=नागवल्लीनां दलैः पपुः । तत्र विजह्रुरित्यर्थः । शात्रवं यशश्च पपुः । जह्रुरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

टीका—उस महेन्द्र पर्वत पर मदिरा पानके लिये मण्डप बनाने वाले रघु के सैनिकों ने नारियल की मदिरा को पान के पत्तों से पिया और शत्रुओं के यश को भी पी लिया (हरण किया) ॥४२॥

गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः ।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

दण्डान्वयः—धर्मविजयी सः नृपः गृहीतप्रतिमुक्तस्य महेन्द्रनाथस्य श्रियं जहार, मेदिनीं तु न (जहार) ।

धर्मविजयी = धर्मार्थं विजयशीलः स नृपः=रघुः । गृहीतश्चासौ प्रतिमुक्तश्च गृहीतप्रतिमुक्तः । तस्य महेन्द्रनाथस्य=कालिङ्गस्य श्रियं जहार । धर्मार्थमिति भावः । मेदिनीं तु न जहार । शरणागतवात्सल्यादिति भावः।

टीका—धर्मविजेता राजा रघु ने पहिले पकड़ कर बाद में छोड़ दिए गए महेन्द्रगिरि के राजा की लक्ष्मी को हरण कर लिया, राज्य को नहीं ॥ ४३ ॥

ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना ।
अगस्त्य चरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥ ४४ ॥

दण्डान्वयः—ततः अनायासजयः फलवत्पूगमालिना वेलातटेन एव अगस्त्याचरिताम् आशां ययौ।

ततः=प्राचीविजयानन्तरं फलवत्पूगमालिना=फलितक्रमुकश्रेणीमता। व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः। वेलायाः समुद्रकूलस्य तटेनोपान्तेनैवागस्त्येनाचरितामाशां=दक्षिणां दिशमनाशास्यजयः=अयत्नसिद्धत्वादप्रार्थनीयजयः सन्। ययौ। 'अगस्त्यो दक्षिणामाशामाश्रित्य नभसि स्थितः। वरुणस्यात्मजो योगी विन्ध्यवातापिमर्दनः॥' इति ब्रह्मपुराणे॥

टीका—(पूर्व दिशाके विजय के) अनन्तर अनायास जय पाने वाले रघु, फलसे युक्त सुपारी के पेड़ की कतारवाले समुद्रके किनारे ही किनारे, अगस्त्यमुनिसे सेवित दक्षिण दिशाकी ओर गये॥४४॥

१९१३ / १९२४ { स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना।
कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥४५॥

दण्डान्वयः—सः गजदानसुगन्धिना सैन्यपरिभोगेण कावेरीं सरितां शङ्कनीयाम् इव अकरोत्।

सः=रघुः। गजानां दानेन मदेन सुगन्धिना सुरभिगन्धिना। "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यनेनेकारादेशः समासान्तः। यद्यपि गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणं कर्तव्यमिति नैसर्गिकगन्धविवक्षायामेवेकारादेशः, तथापि निरङ्कुशाः कवयः। तथा माघकाव्ये-'वव्रुरुच्छदगुच्छसुगन्धयः सततगास्ततगानगिरोऽलिभिः' (६।५०) नैषधे च—'अपां हि तृषाय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा' (३, ९३) इति। न कर्मधारयान्मत्वर्थीय इति निषेधादिनिप्रत्ययपक्षोऽपि जघन्य एव। सेनायां समवेताः सैन्याः। 'सेनायां समवेता ये सैन्यास्ते सैनिकाश्च ते' इत्यमरः। "सेनाया वा" इति ण्यप्रत्ययः। तेषां परिभोगेण कावेरीं नाम सरितं सरितां पत्युः=समुद्रस्य शङ्कनीयाम्=अविश्वसनीयामिवाकरोत्। सम्भोगलिङ्गदर्शनाद्धर्तुरविश्वासो भवतीति भावः॥ ४५॥

टीका—रघु ने हाथियों के मदसे सुगन्धित सैनिकों की विलास-

लोला से कावेरी नदी [दक्षिण भारत की नदी] को उसके पति समुद्र के प्रति मानों अविश्वासपात्री बना दिया ॥ ४५ ॥

बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः ।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥ ४६ ॥

दण्डान्वयः—विजिगीषोः गताध्वनः तस्य बलैः मारीचोद्भ्रान्तहारीताः मलयाद्रेः उपत्यकाः अध्युषिताः ।

विजिगीषोः = विजेतुमिच्छोर्गताध्वनस्तस्य=रघोर्बलैः = सैन्यैः । 'बलं शक्तिर्बलं सैन्यम्' इति यादवः । मारीचेषु मरीचवनेषूद्भ्रान्ताः परिभ्रान्ता हारीताः पक्षिविशेषा यासु ताः । 'तेषां विशेषा हारीतो मद्गुः कारण्डवः प्लवः' इत्यमरः । मलयाद्रेरुपत्यकाः=आसन्नभूमयः । 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । "उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः" इत्यनेन त्यकन्प्रत्ययः । अध्युषिताः । उपत्यकासूषितमित्यर्थः । "उपान्वध्याङ्वसः" इति कर्मत्वम् ॥ ४६ ॥

टीका—विजय चाहने वाली, कुछ रास्ता पार कर चुकी हुई रघु की सेना ने मिर्च के वनों में उड़नेवाली हारील चिड़ियों वाली मलय पर्वत (मलाबार में पश्चिमी घाट पर्वत का दक्षिण वाला हिस्सा) की तराई में विश्राम किया ॥ ४६ ॥

ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥ ४७ ॥

दण्डान्वयः—अश्वक्षुण्णानाम् एलानाम् उत्पतिष्णवः फलरेणवः तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु ससञ्जुः ।

अश्वैः क्षुण्णानामेलानाम्=एलालतानामुत्पतिष्णवः=उत्पतनशीलाः। "अलंकृञ्निराकृञ्०" इत्यादिनेष्णुच्प्रत्ययः । फलरेणवः=फलरजांसि तुल्यगन्धिषु=समानगन्धिषु । सर्वधनीतिवदिन्नन्तो बहुव्रीहिः । मत्तेभानां कटेषु ससञ्जुः=लग्नाः । 'गजगण्डे कटीकटौ' इति कोषः ॥४७॥

टीका—घोड़ों की टापों से खुदी हुई इलायची की उड़ती हुई

फलों की धूलि (अपने) समान सुगन्धिवाली हाथियों की कनपटी में लग गयी ॥ ४७ ॥

भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।
नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥ ४८ ॥

दण्डान्वयः—चन्दनानां भोगिवेष्टनमार्गेषु समर्पितं त्रिपदीच्छेदिनाम् अपि करिणां ग्रैवं न अस्रसत् ।

चन्दनानां = चन्दनद्रुमाणां भोगिवेष्टनमार्गेषु = सर्पवेष्टनान्निम्नेषु समर्पितं = सञ्जितं त्रिपदीच्छेदिनां = पादशृङ्खलच्छेदकानामपि । 'त्रिपदी पादबन्धनम्' इति यादवः । करिणाम् । ग्रीवासु भवं ग्रैवं=कण्ठबन्धनम् । "ग्रीवाभ्योऽण्च" इत्यण्प्रत्ययः । नास्रसत् = न स्रस्तमभूत् । "द्युद्भ्यो लुङि" इति परस्मैपदे पुषादित्वादङ् । "अनिदितां हल उपधायां क्ङिति" इति नकारलोपः ॥ ४८ ॥

टीका—चन्दन के पेड़ों में साँपों के लिपटने की रेखाओं (घट्ठों) में दिये हुये, पैर के सीकड़ को तोड़ डालने वाले हाथियों के गले के रस्से ढीले नहीं हुए ॥ ४८ ॥

१९२२ } दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
१९२६ } तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥४९॥

दण्डान्वयः—दक्षिणस्यां दिशि रवेः अपि तेजः मन्दायते, तस्याम् एव (दिशि) पाण्ड्याः रघोः प्रतापं न विषेहिरे ।

दक्षिणस्यां दिशि रवेरपि तेजो मन्दायते = मन्दं भवति । लोहितादित्वात्क्यष्प्रत्ययः । "वा क्यषः" इत्यात्मनेपदम् । दक्षिणायने तेजोमान्द्यादिति भावः । तस्यामेव दिशि । पाण्ड्याः पाण्डूनां जनपदानां राजानः पाण्ड्याः । पाण्डोर्ड्यण्वक्तव्यः । रघोः प्रतापं न विषेहिरे = न सोढवन्तः । सूर्यविजयिनोऽपि विजितवानिति नायकस्य महानुत्कर्षो गम्यते ॥४९॥

टीका—दक्षिण दिशा में सूर्य का भी तेज मन्द होता है, परन्तु उसी दिशा में पाण्ड्य देश के राजाओं से रघु का प्रताप न सहा गया ॥ ४९ ॥

ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः ।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव सञ्चितम्॥ ५० ॥

दण्डान्वयः—ते ताम्रपर्णीसमेतस्य महोदधेः मुक्तासारं-स्वं सञ्चितं यशः इव-तस्मै निपत्य ददुः ।

ते = पाण्ड्यास्ताम्रपर्ण्या नद्या समेतस्य सङ्गतस्य महोदधेः सम्बन्धि सञ्चितं मुक्तासारं = मौक्तिकवरम् । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः । स्वं = स्वकीयं सञ्चितं यश इव । तस्मै=रघवे निपत्य = प्रणिपत्य ददुः । यशसः शुभ्रत्वादौपम्यम् । ताम्रपर्णीसङ्गमे मौक्तिकोत्पत्तिरिति प्रसिद्धम् ॥ ५० ॥

टीका—(पाण्ड्यदेश के) उन राजाओं ने ताम्रपर्णी (मद्रास प्रान्त के तिनवल्लि जिले में बहने वाली) नदी से संयुक्त महासागर के आबदार मोती—अपने इकट्ठे किए हुये यश के समान—रघु के पैर पर गिर कर (उपहार में) दिए ॥ ५० ॥

स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलय-दर्दुरौ ॥ ५१ ॥
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता ।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ॥ ५२ ॥

दण्डान्वयः—तटेषु आलीनचन्दनौ तस्याः दिशः—स्तनौ इव-(स्थितौ) मलयदर्दुरौ शैलौ यथाकामं निर्विश्य असह्यविक्रमः सः उदन्वता दूरात् मुक्तं मेदिन्याः स्रस्तांशुकं नितम्बम् इव-सह्यं अलङ्घयत् ।

युग्ममेतत् । असह्यविक्रमः सः = रघुस्तटेषु = सानुष्वालीनचन्दनौ= व्याप्तचन्दनद्रुमौ । 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । स्तनपक्षे प्रान्तेषु व्याप्तचन्दनानुलेपौ । तस्याः=दक्षिणस्या दिशः स्तनाविव स्थितौ मलयदर्दुरौ नाम शैलौ यथाकामं = यथेच्छं निर्विश्य = उपभुज्य । 'निर्वेश भृतिभोगयोः' इत्यमरः । उदकान्यस्य सन्तीत्युदन्वानुदधिः । "उदन्वानुदधौ च" इति निपातः । उदन्वता दूरान्मुक्तं = दूरतस्त्यक्तम् ।

"स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन" इति समासः । "पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः" इत्यलुक् । स्रस्तांशुकं मेदिन्या नितम्बमिव स्थितं सह्यं = सह्याद्रिमलङ्घयत् = प्राप्तोऽतिक्रान्तो वा ॥ ५१–५२ ॥

टीका--किनारे पर चन्दन के वृक्ष लगे हुए (स्तन पक्ष में–चन्दन के लेप लगे हुए छोर वाले) उस दक्षिणदिशा रूपी रमणी के दोनों स्तन के समान स्थित मलय और दर्दुर पर्वत (पश्चिमीघाट की पर्वत माला) पर मनमाना विहार कर (स्तन पक्ष में—'कुचमर्दन कर') असह्यपराक्रमी रघु—समुद्र से दूर छोड़े हुए पृथ्वीकामिनी की खिसकी हुई साड़ी वाले चूतड़ के समान—सह्य (सतपुरा) पर्वत को लाँघ गए ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

१६२७ { तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः ।
रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः ॥५३॥

दण्डान्वयः—अपरान्तजयोद्यतै विसर्पद्भिः तस्य अनीकैः अर्णवः रामास्त्रोत्सारितः अपि—सह्यलग्नः इव—आसीत् ।

अपरान्तानां पाश्चात्यानां जय उद्यतैरुद्युक्तैः । 'अपरान्तास्तु पाश्चात्यास्ते च सूर्पारिकादयः' इति यादवः । विसर्पद्भिः = गच्छद्भिस्तस्य = रघोरनीकैः = सैन्यैः । 'अनीकं तु रणे सैन्ये' इति विश्वः । अर्णवो रामस्य जामदग्न्यस्यास्त्रैरुत्सारितः परिसारितोऽपि सह्यलग्न इवासीत् । सैन्यं द्वितीयोऽर्णव इवादृश्यतेति भावः ॥ ५३ ॥

टीका--पश्चिम देशीय (कोंकण) राजाओं की विजय के लिये जाने वाली उसकी सेना से समुद्र, परशुराम के अस्त्रों से हटाए जाने पर भी—सह्यपर्वत से मिला हुआ सा—था ॥ ५३ ॥

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥ ५४ ॥

दण्डान्वयः—भयोत्सृष्टविभूषाणां केरलयोषिताम् अलकेषु तेन चमूरेणुः चूर्णप्रतिनिधीकृतः ।

तेन = रघुणा भयेनोत्सृष्टविभूषाणां परिहृतभूषणानां केरलयोषितां = केरलाङ्गनानामलकेषु चमूरेणुः = सेनारजश्चूर्णस्य कुङ्कुमादिरजसः प्रतिनिधीकृतः। एतेन योषितां पलायनं चमूनां च तदनुधावनं ध्वन्यते॥५४॥

टीका—भय से अलङ्कारों को त्यागने वाली केरलदेश (वर्तमान कोचीन, त्रावङ्कोर, कनारा) की स्त्रियों के सुन्दर घुंघराले बालों में रघु ने सेना की धूलि सुगन्धितचूर्ण ('पाउडर') के स्थान में लगादी ॥ ५४ ॥

मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः ।
तद्योधवारवाणानामयत्नपटवासताम् ॥ ५५ ॥

दण्डान्वयः—मुरलामारुतोद्धूतं कैतकं रजः तद्योधवारवाणानाम् अयत्नपटवासताम् अगमत् ।

मुरला नाम केरलदेशेषु काचिन्नदी। 'मुरलीमारुतोद्धूतम्' इति केचित्पठन्ति। तस्य मारुतेनोद्धूतमुत्थापितं कैतकं = केतकीसम्बन्धि रजस्तद्योधवारवाणानां = रघुभटकञ्चुकानाम् । 'कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री' इत्यमरः। अयत्नपटवासताम् = अयत्नसिद्धवस्त्रवासनाद्रव्यत्वमगमत् । 'पिष्टातः पटवासकः' इत्यमरः ॥ ५५ ॥

टीका—मुरला नदी की हवा से उड़ायी गयी केवड़ा की धूलि उसके सैनिकों के जिरहबख्तर को बिना प्रयत्न के ही बुकवा बन गयी ॥ ५५ ॥

अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः ।
वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ॥ ५६ ॥

दण्डान्वयः—चरतां वाहानां गात्रशिञ्जितैः वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः अभ्यभूयत ।

चरतां = गच्छतां वाहानां = वाजिनाम् । 'वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः' इत्यमरः । गात्रशिञ्जितैः=गात्रेषु शब्दायमानैः । कर्तरि क्तः । 'गात्र सञ्जितैः' इति वा पाठः । सञ्जतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । वर्मभिः=

कवचैः । 'मर्मरैः' इति पाठे वाहानां गात्रशिञ्जितैर्गात्रध्वनिभिरित्यर्थः । मर्मरो मर्मरायमाण इति ध्वनेर्विशेषणम् । पवनेनोद्धूतानां कम्पितानां राजतालीवनानां ध्वनिरभ्यभूयत=तिरस्कृतः ॥ ५६ ॥

टीका—चलते हुए घोड़ों के शरीर पर बजते हुए कवचों से, वायु से हिलते हुए ताड़ के वनों के शब्द, दब गए ॥ ५६ ॥

१९११ { खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु ।
कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः ॥५७॥

दण्डान्वयः—खर्जूरीस्कन्धनद्धानां करिणां मदोद्गारसुगन्धिषु कटेषु पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः पेतुः ।

खर्जूरीणां तृणद्रुमविशेषाणाम् । 'खर्जूरः केतकी ताली खर्जूरी च तृणद्रुमाः' इत्यमरः । स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु । 'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधेस्तरोः' इत्यमरः । नद्धानां बद्धानां करिणां मदोद्गारेण मदस्रावेण सुगन्धिषु । "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" इत्यनेनेकारः । कटेषु=गण्डेषु पुन्नागेभ्यः=नागकेशरेभ्यः पुन्नागपुष्पाणि विहाय । ल्यब्लोपे पञ्चमी । शिलीमुखाः=अलयः पेतुः । 'अलिबाणौ शिलिमुखौ' इत्यमरः । ततोऽपि सौगन्ध्यातिशयादिति भावः ॥ ५७ ॥

टीका—खजूरके तनोंमें बँधे हाथियोंके मदके टपकनेसे सुगन्धित कनपटियों पर, नागकेसर के फूलों को छोड़कर, भौंरे आ बैठे॥५७॥

१९२४ { अवकाशं किलोदन्वान्रामायाभ्यर्थितो ददौ ।
अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥ ५८ ॥

दण्डान्वयः—उदन्वान् अभ्यर्थितः रामाय अवकाशं ददौ किल, अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करं (ददौ) ।

उदन्वान्=उदधौ रामाय=जामदग्न्याय । अभ्यर्थितो=याचितः सन् । अवकाशं=स्थानं ददौ किल । किलेति प्रसिद्धौ । रघवे त्वपरान्तमहीपालव्याजेन करं=बलिं ददौ । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । अपरान्तानां समुद्रमध्यदेशवर्तित्वात्तैर्दत्ते करे समुद्रदत्तत्वोपचारः । करदानं च भीत्या, च न तु याच्ञयेति रामाद्रघोरुत्कर्षः ॥ ५८ ॥

टीका—समुद्र ने माँगने पर परशुराम को स्थान दिया था, ऐसी जनश्रुति है। परन्तु उसी (समुद्र) ने पश्चिम देशीय राजाओं के बहाने रघु को 'राज-कर' दिया ॥ ५८ ॥

मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम् ।
त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥५९॥

दण्डान्वयः—तत्र सः मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणं त्रिकूटम् एव उच्चैः जयस्तम्भं चकार ।

तत्र सः = रघुर्मत्तानामिभानां रदनोत्कीर्णानि दन्तक्षतान्येव । भावे क्तः । व्यक्तानि स्फुटानि विक्रमलक्षणानि पराक्रमचिह्नानि विजयवर्णावलिस्थानानि यस्मिंस्तं तथोक्तं त्रिकूटमेवोच्चैर्जयस्तम्भं चकार । गाढप्रकाशश्चिकूटोऽद्रिरेवोत्कीर्णवर्णस्तम्भ इव रघोर्जयस्तम्भोऽभूदित्यर्थः ॥५९॥

टीका—वहाँ [केरल देश में] उस रघु ने अपने मतवाले हाथियों के दाँतों से खुदे हुए पराक्रम के चिह्नवाले त्रिकूट पर्वत को ही ऊंचा विजयस्तम्भ बनाया ॥ ५९ ॥

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥६०॥

दण्डान्वयः—ततः संयमी तत्त्वज्ञानेन-इन्द्रियाख्यान् रिपून् इव-सः पारसीकान् जेतुं स्थलवर्त्मना प्रतस्थे ।

ततः स रघुः । संयमी = योगी तत्त्वज्ञानेनेन्द्रियाख्यान्=इन्द्रियनामकान् रिपूनिव । पारसीकान् राज्ञो जेतुं स्थलवर्त्मना प्रतस्थे । न तु निर्दिष्टेनापि जलपथेन । समुद्रयानस्य निषिद्धत्वादिति भावः ॥६०॥

टीका—तदनन्तर---जिस प्रकार योगी तत्त्वज्ञान से इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीतते हैं उसी प्रकार---रघु पारसियों को जीतने के लिए स्थलमार्ग [खुश्की-रास्ता] से रवाना हुआ ॥ ६० ॥

१६२७ यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥ ६१ ॥

दण्डान्वयः—सः यवनीमुखपद्मानां मधुमदम्-अकालजलदोदयः अब्जानां बालातपम् इव न सेहे।

सः = रघुर्यवनीनां यवनस्त्रीणाम्। "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" इति ङीप्। मुखानि पद्मानीव मुखपद्मानि। उपमितसमासः। तेषां मधुना मद्येन यो मदो मदरागः। कार्यकारणभावयोरभेदेन निर्देशः। तं न सेहे। कमिव। अकाले प्रावृड्व्यतिरिक्ते काले जलदोदयः। प्रायेण प्रावृषि पद्मविकाशस्याप्रसक्तत्वादब्जानां सम्बन्धिनं बालातपमिव। अब्ज-हितत्वादब्जसम्बन्धित्वं सौरातपस्य ॥ ६१ ॥

टीका—उस रघु ने यवन (पारसी) महिलाओं के मुख कमलों की शराब की लाली को सहन न किया (अर्थात् असमय में आक्रमण कर रघु ने उन्हें भयभीत बना दिया जिसके उनके मुख-कमल विकसित न हुए)-जैसे असमय (बारिस के अलावा और मौसिमों) में उठा हुआ बादल कमल सम्बन्धी बाल सूर्य के घाम को नहीं सहन करता (अर्थात् असमय में उठा हुआ बादल बाल सूर्य के प्रकाश को दबा देता है जिससे वे विकसित होने नहीं पाते) ॥६१॥

संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥ ६२ ॥

दण्डान्वयः—तस्य अश्वसाधनैः पाश्चात्यैः शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजसि तुमुलः संग्रामः अभूत्।

तस्य = रघोरश्वसाधनैः = वाजिसैन्यैः। 'साधनं सिद्धि-सैन्ययोः' इति हैमः। पश्चाद्भवैः पाश्चात्यैः = यवनैः सह। "दक्षिणापश्चात्पुर-सस्त्यक्" इति त्यक्। सहार्थे तृतीया। शृङ्गाणां विकाराः शार्ङ्गाणि धनूंषि तेषां कूजितैः शब्दैः। 'शार्ङ्गं पुनर्धनुषि शार्ङ्गिणः। जये च शृङ्गविहिते चापेऽप्याह विशेषतः॥' इति केशवः। अथवा शार्ङ्गैः शृङ्ग-सम्बन्धिभिः कूजितैर्विज्ञेया अनुमेयाः प्रतियोधाः प्रतिभटा यस्मिंस्तस्मिन् रजसि तुमुलः संग्रामः=सङ्कुलं युद्धमभूत्। 'तुमुलं रणसङ्कुले' इत्यमरः॥

टीका—उसका घुड़सवार सेनावाले पश्चिम देशवासियों के साथ धनुष की टङ्कारों से ही अपने शत्रुपक्ष के भट को बतलानेवाली धूलि (के अन्धेरे) में भीषण युद्ध हुआ (खूब गहरी मुठभेड़ हुई) ॥६२॥

१६३७ { भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्मही म् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥ ६३ ॥

दण्डान्वयः—सः तेषां भल्लापवर्जितैः श्मश्रुलैः शिरोभिः-सरघाव्याप्तैः क्षौद्रपटलैः-इव महीं तस्तार ।

सः = रघुर्भल्लापवर्जितैः=बाणविशेषकृत्तैः । 'स्नुहीदलफलो भल्लः' इति यादवः । श्मश्रुलैः = प्रवृद्धमुखरोमवद्भिः । "सिध्मादिभ्यश्च" इति लच्प्रत्ययः । तेषां = पाश्चात्यानां शिरोभिः । सरघाभिर्मधुमक्षिकाभिर्व्याप्तैः । 'सरघा मधुमक्षिका' इत्यमरः । क्षुद्राः सरघाः । 'क्षुद्रा व्यङ्गा नटी वेश्या सरघा कण्टकारिका' इत्यमरः । क्षुद्राभिः कृतानि क्षौद्राणि मधूनि । 'मधु क्षौद्रं माक्षिकादि' इत्यमरः । "क्षुद्राभ्रमरवटरपादपादञ्" इति संज्ञायामञ्प्रत्ययः । तेषां पटलैः सञ्चयैरिव । 'पटलं तिलके नेत्ररोगे छन्दसि सञ्चये । पटिके परिवारे च' इति हैमः । महीं तस्तार = आच्छादयामास ॥ ६३ ॥

टीका—रघु ने उनके भल्लबाणों से कटे हुए, दाढ़ीवाले शिरों से—शहद की मक्खियों से भरे हुए मधु के छत्तों के समान—मेदिनी पाट दी ॥ ६३ ॥

१६१३ { अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः ।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥ ६४ ॥

दण्डान्वयः—अपनीतशिरस्त्राणाः शेषाः तं शरणं ययुः, महात्मनां संरम्भः हि प्रणिपातप्रतीकारः ।

शेषाः=हतावशिष्टा अपनीतशिरस्त्राणाः=अपसारितशीर्षण्याः सन्तः । 'शीर्षकम् । शीर्षण्यं च शिरस्त्रे' इत्यमरः । शरणागतलक्षणमेतत् । तं= रघुं शरणं ययुः । तथा हि । महात्मनां संरम्भः = कोपः । 'संरम्भः

संभ्रमे कोपे' इति विश्वः। प्रणिपातः प्रणतिरेव प्रतीकारो यस्य स हि। महतां परकीयमौद्धत्यमेवासह्यं, न तु जीवितमिति भावः ॥६४॥

टीका—अपने शिर के टोपों को उतारे हुए बाकी बचे हुए यवन उस रघु की शरण में गये। (ठीक है) बड़े लोगों का क्रोध नम्रता से दूर होता है ॥ ६४ ॥

विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥ ६५ ॥

दण्डान्वयः—तद्योधाः आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु मधुभिः विजयश्रमं विनयन्ते स्म।

तस्य रघोर्योधा भटाः। आस्तीर्णान्यजिनरत्नानि चर्मश्रेष्ठानि यासु तासु द्राक्षावलयानां भूमिषु। 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा स्वाद्वी मधुरसेति च' इत्यमरः। मधुभिः=द्राक्षाफलप्रकृतिकैर्मद्यैर्विजयश्रमं=युद्धखेदं विनयन्ते स्म=अपनीतवन्तः। "कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि" इत्यात्मनेपदम्। "लट् स्मे" इति भूतार्थे लट् ॥ ६५ ॥

टीका—उस रघु के सैनिकों ने अच्छे चमड़े बिछी हुई दाखों के उद्यान-कुञ्जों में (अंगूरी) शराब (पीने) से जीत की थकावट मिटाई ॥ ६५ ॥

ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ॥ ६६ ॥

दण्डान्वयः—ततः रघुः भास्वान् इव—शरैः—उस्रैः इव उदीच्यान्-रसान् इव—उद्धरिष्यन् कौबेरीं दिशं प्रतस्थे।

ततो रघुर्भास्वान्=सूर्य इव शरैः=बाणैरुस्रैः=किरणैरिव। 'किरणोस्र-मयूखांशु-गभस्ति-घृणि-रश्मयः' इत्यमरः। उदीच्यान्=उदग्भवान्नृपान् रसान्=उदकानीवोद्धरिष्यन् कौबेरीं=कुबेरसम्बन्धिनीं दिशम्=उदीचीं प्रतस्थे अनेकेनेवशब्देनेयमुपमा। यथाह दण्डी—'एकानेकेवशब्दत्वात्सा वाक्यार्थोपमा द्विधा' इति ॥ ६६ ॥

टीका--तब सूर्यरूपी रघु किरण रूपी बाणों से जलरूपी धन को शोषण करने के लिये उत्तरायण हुए अर्थात् जैसे सूर्य अपनी किरणों से जल को सुखाने के लिए उत्तरायण होता है उसी प्रकार रघु अपने बाणों से उत्तरप्रदेश के राजाओं को पराजित करने के लिए कुबेर की दिशा (उत्तर) की ओर चले ॥ ६६ ॥

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥ ६७ ॥

दण्डान्वयः—सिन्धुतीरविचेष्टनैः विनीताध्वश्रमाः तस्य वाजिनः लग्नकुङ्कुमकेसरान् स्कन्धान् दुधुवुः ।

सिन्धुर्नाम काश्मीरदेशेषु कश्चिन्नदविशेषः । 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इत्यमरः । सिन्धोस्तीरे विचेष्टनैरङ्गपरिवर्तनैर्विनीताध्वश्रमास्तस्य=रघोर्वाजिनः=अश्वा लग्नाः कुङ्कुमकेशराः कुङ्कुमकुसुमकिञ्जल्का येषां तान् । यद्वा लग्नकुङ्कुमाः केशराः सटा येषां तान् । 'अथ कुङ्कुमम् । काश्मीरजन्म' इत्यमरः । 'केशरो नागकेशरे । तुरङ्गसिंहयोः स्कन्धकेशेषु बकुलद्रुमे । पुन्नागवृक्षे किञ्जल्के स्यात्' इति हैमः । स्कन्धान्=कायान् । 'स्कन्धः प्रकाण्डे कायेंऽसे विज्ञानादिषु पञ्चसु । नृपे समूहे व्यूहे च' इति हैमः । दुधुवुः=कम्पयन्ति स्म ॥ ६७ ॥

टीका--सिन्धु नदी के किनारे लोटने-पोटने से मार्ग की थकावट मिटाने वाले रघु के घोड़ों ने केशर लगे हुए देह झाड़े ॥ ६७ ॥

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ ६८ ॥

दण्डान्वयः—तत्र भर्तृषु व्यक्तविक्रमं रघुचेष्टितं हूणावरोधानां कपोलपाटलादेशि बभूव ।

तत्र=उदीच्यां दिशि भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् । भर्तृवधेन स्फुटपराक्रममित्यर्थः । रघुचेष्टितं=रघुव्यापारः । हूणा जनपदाख्याः क्षत्रियाः । तेषामवरोधा अन्तःपुरस्त्रियस्तासां कपोलेषु पाटलस्य पाटलिम्नस्ताडनम्-

दिक्कृतारुण्यस्यादेश्युपदेशकं बभूव। अथवा पाटल आदेश्यादेष्टा यस्य तद्बभूव। स्वयं लेख्यायत इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

टीका—वहाँ (उत्तर में) उनके पतियों के प्रति पराक्रम दिखानेवाला रघु का पौरुष हूणों की रानियों के कपोलों में लालीपन का सूचक हुआ ॥ ६८ ॥

काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः।
गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः ॥ ६९ ॥

दण्डान्वयः—समरे तस्य वीर्यं सोढुम् अनीश्वराः काम्बोजाः गजालानपरिक्लिष्टैः अक्षोटैः सार्धम् आनताः।

काम्बोजा राजानः समरे तस्य = रघोर्वीर्यं = प्रभावम्। 'वीर्यं तेजःप्रभावयोः' इति हैमः। सोढुमनीश्वराः = अशक्ताः सन्तः। गजानामालानं बन्धनम्। भावे ल्युटि "विभाषा लीयतेः" इत्यात्वम्। तेन परिक्लिष्टैः परिक्षतैरक्षोटैः = वृक्षविशेषैः सार्धमानताः ॥ ६९ ॥

टीका—युद्ध में रघु के पराक्रम को न सह सकनेवाले काम्बोजदेशीय (हिन्दूकुश पर्वत के समीप काफिर रहते थे जो आज भी अपने को 'कमोज' कहते हैं।) राजा हाथियों के रस्सों से नुचे जाते हुए अखरोट के पेड़ों के साथ, झुक गये ॥ ६९ ॥

तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम् ॥७०॥

दण्डान्वयः—तेषां सदश्वभूयिष्ठाः तुङ्गाः द्रविणराशयः उपदाः कोसलेश्वरं शश्वत् विविशुः, उत्सेकाः न (विविशुः)।

तेषां = काम्बोजानां सद्भिरश्वैर्भूयिष्ठा बहुलास्तुङ्गा द्रविणानां हिरण्यानाम्। 'हिरण्यं द्रविणं द्युम्नम्' इत्यमरः। राशय एवोपदाः = उपायनानि। 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः। कोसलेश्वरं = कोसलदेशाधिपतिं तं रघुं शश्वद् = असकृद्विविशुः। 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः' इत्यमरः। तथाप्युत्सेकाः = गर्वास्तु न विविशुः। सत्यपि गर्वकारणे, न जगर्वेत्यर्थः ॥ ७० ॥

टीका—उन काम्बोज-नरेशों के बहुत से अच्छे २ काबुली घोड़े और ऊँची-ऊँची सोने की ढेर नज़र (उपहार) में कोशलराज रघु के पास बार बार आये, लेकिन गर्व नहीं (आया) ॥ ७० ॥

ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः।
वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥ ७१ ॥

दण्डान्वयः—ततः अश्वसाधनः (सन्) गौरीगुरुं शैलम्—उद्धूतैः धातुरेणुभिः तत्कूटान् वर्धयन् इव-आरुरोह।

ततः = अनन्तरमश्वसाधनः सन्गौर्या गुरुं पितरं शैलं = हिमवन्तम्। उद्धूतैः = अश्वखुरोद्धूतैर्धातूनां गैरिकादीनां रेणुभिस्तत्कूटान् = तस्य शृङ्गाणि। 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः। वर्धन्निव। आरुरोह। उत्पतद्धूलिदर्शनाद्गिरिशिखरवृद्धिभ्रमो जायत इति भावः ॥७१॥

टीका—तदनन्तर घुड़सवारों को लिये हुए (पार्वती के पिता) हिमालय पर्वत पर—टापों से उड़ी हुई गेरू आदि धातुओं की धूलों से उसकी चोटी को ऊँचा करता हुआ सा—चढ़ा ॥ ७१ ॥

शशंस तुल्यासत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसंभ्रमम्।
गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम् ॥ ७२ ॥

दण्डान्वयः—(सः) तुल्यसत्त्वानां गुहाशयानां सिंहानां सैन्यघोषे अपि असंभ्रमं परिवृत्य अवलोकितं शशंस।

तुल्यसत्त्वानां = सैन्यैः समानबलानाम्। गुहासु शेरत इति गुहाशयास्तेषाम्। "अधिकरणे शेतेः" इत्यच्प्रत्ययः। 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा' इत्यमरः। सिंहानां = हरीणाम्। 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः। सम्बन्धि परिवृत्य=पराबृत्याऽवलोकितं=शयित्वैव ग्रीवाभङ्गेनावलोकनं कर्तृ सैन्यघोषे=सेनाकलकले संभ्रमकारणे सत्यप्यसंभ्रमम्=अन्तःक्षोभविरहित्वम्। नञः प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि समास इष्यते। शशंस=कथयामास। सैन्येभ्य इत्यर्थाल्लभ्यते। बाह्यचेष्टितमेव मनोवृत्तेरनुमापकमिति भावः। असंभ्रान्तत्वे हेतुस्तुल्यसत्त्वानामिति। न हि समबलः समबलाद्बिभ्यतीति भावः ॥ ७२ ॥

टीका—(रघुने) समान बलवाले, गुफाओं में सोने वाले शेरों का, सेना के कोलाहल में भी, (न घबड़ा कर) लापरवाही के साथ गरदन उठाकर देखना-(सैनिकों से) कहा ॥ ७२ ॥

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः ।
गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥ ७३ ॥

दण्डान्वयः—भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः गङ्गाशीकरिणः मरुतः तं मार्गे सिषेविरे ।

भूर्जेषु = भूर्जपत्रेषु । 'भूर्जपत्रो भुजो भूर्जो मृदुत्वक्चर्मिका मता' इति यादवः । मर्मरः शुष्कपर्णध्वनिः । 'मर्मरः शुष्कपर्णानाम्' इति यादवः । अयं च शुक्लादिशब्दवद्गुणिन्यपि वर्तते । प्रयोज्यते च—'मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिः' इति । अतो मर्मरीभूताः । मर्मरशब्दवन्तो भूता इत्यर्थः । कीचकानां वेणुविशेषाणां ध्वनिहेतवः । श्रोत्रसुखाश्चेति भावः । गङ्गाशीकरिणः । शीतला इत्यर्थः । मरुतः = वाता मार्गे तं सिषेविरे ॥ ७३ ॥

टीका—भोजपत्रों में मर-मर आवाज़ करने वाली, कीचक नामक रामबाँस में ध्वनि पैदा करने वाली, गङ्गा जल के कणों वाली (शीतल) हवा ने रघु की मार्ग में सेवा की ॥ ७३ ॥

विश्रश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।
दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभिः ॥ ७४ ॥

दण्डान्वयः—सैनिकाः नमेरूणां छायासु निषण्णमृगनाभिभिः वासितोत्सङ्गाः दृषदः अध्यास्य विश्रश्रमुः ।

सैनिकाः=सेनायां समवेताः । प्राग्वहतीयष्ठक्प्रत्ययः । नमेरूणां= सुरपुन्नागानां छायासु निषण्णानां दृषदुपविष्टानां मृगाणां कस्तूरीमृगाणां नाभिभिर्वासितोत्सङ्गाः =सुरभिततला दृषदः = शिला अध्यास्य=अधिष्ठाय । "अधिशीङ्स्थासां कर्म" इति कर्म । दृषत्स्वधिरुह्येत्यर्थः । विश्रश्रमुः = विश्रान्ताः ॥७४॥

टीका--योद्धाओं ने नमेरु (देवताओं की सुपारी) वृक्षों की छाया में बैठे हुए कस्तूरी-हिरण की नाभिस्थ कस्तूरी से सुगन्धित चट्टानों पर बैठकर विश्राम किया ॥ ७४ ॥

सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः ।
आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिका ॥७५॥

दण्डान्वयः—सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः-ओषधयः नेतुः नक्तम् अस्नेहदीपिकाः आसन् ।

सरलेषु देवदारुविशेषेष्वासक्तानि यानि मातङ्गानां गजानाम् । ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयाणि कण्ठश्रृङ्खलानि । 'ग्रीवाभ्योऽण्च' इति चकाराड्ढञ्प्रत्ययः । तेषु स्फुरितत्विषः प्रतिफलितभास ओषधयः = ज्वलन्तो ज्योतिर्लतादिविशेषा नक्तं = रात्रौ नेतुः = नायकस्य रघोरस्नेहदीपिकाः = तैलनिरपेक्षाः प्रदीपा आसन् ॥ ७५ ॥

टीका—चीड़ के पेड़ में बँधे हुए हाथियों के गले की सिक्कड़ों में चमकती हुई कान्तिवाली (ज्योतिर्लता आदि) बूटियाँ सेनानायक रघु के लिए बिना तेल के दीपक की पंक्तियाँ हुईं ॥ ७५ ॥

तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः ।
गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥ ७६ ॥

दण्डान्वयः--तस्य उत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः देवदारवः किरातेभ्यः गजवर्ष्म शशंसुः ।

तस्य=रघोरुत्सृष्टेषूज्झितेषु निवासेषु सेनानिवेशेषु कण्ठरज्जुभिर्गजग्रैवैः क्षता निष्पिष्टास्त्वचो येषां ते देवदारवः किरातेभ्यः = वनचरेभ्यो गजानां वर्ष्म प्रमाणम् । 'वर्ष्म देहप्रमाणयोः' इत्यमरः । शशंसुः = कथितवन्तः । देवदारुस्कन्धत्वक्क्षतैर्गजानामौन्नत्यमनुमीयत इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

टीका—रघु के छोड़े हुए फौजी पड़ावों पर गले की सिक्कड़ों से छिली हुई छालवाले देवदार के पेड़ों ने भीलों से हाथियों की ऊँचाई बतलायी ॥ ७६ ॥

१९१५ १९१७ तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत् ।
नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥ ७७ ॥

दण्डान्वयः—तत्र रघोः पर्वतीयैः गणैः नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलं घोरं जन्यम् अभूत् ।

तत्र = हिमाद्रौ रघोः । पर्वते भवैः पर्वतीयैः । "पर्वताच्च" इति छप्रत्ययः । गणैः = उत्सवसंकेताख्यैः सप्तभिः सह । 'गणानुत्सवसङ्केतानजयत्सप्त पाण्डवः' इति महाभारते । नाराचानां बाणविशेषाणां क्षेपणीयानां भिन्दिपालानामश्मनां च निष्पेषेण सङ्घर्षेणोत्पतिता अनला यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । "क्षेपणीयो भिन्दिपालः खड्गो दीर्घो महाफलः" इति यादवः । घोरं = भीमं जन्यं = युद्धमभूत । 'युद्धमायोधनं जन्यम्' इत्यमरः ॥७७॥

टीका—उस हिमालय पर्वत पर (काश्मीर के उत्तर) रघु का पहाड़ी गणों (उत्सव सङ्केत नामक सात कबीलें जिनका गणराज्य था और संयुक्त पार्लियामेण्ट था) से नाराच बाण, भिन्दिपाल और पत्थर के टुकड़ों की रगड़ से उठी हुई अग्निवाला भयङ्कर युद्ध हुआ (अर्थात् रघुकी ओर से बाणों की वर्षा होती थी और पहाड़ी लोगों की ओर से तोपों द्वारा पत्थर आदि की वर्षा होती थी) ॥ ७७ ॥

१९२३ शरैरुत्सवसंकेतान्स कृत्वा विरतोत्सवान् ।
जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान् ॥ ७८ ॥

दण्डान्वयः—सः शरैः उत्सवसङ्केतान् विरतोत्सवान् कृत्वा किन्नरान् बाह्वोः जयोदाहरणं गापयामास ।

सः = रघुः शरैः=बाणैरुत्सवसङ्केतान्नाम गणान् विरतोत्सवान् कृत्वा । जित्वेत्यर्थः । किन्नरान् बाह्वोः = स्वभुजयोर्जयोदाहरणं = जयख्यापकं प्रबन्धविशेषं गापयामास । "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ" इत्यनेन किन्नराणां कर्मत्वम् ॥ ७८ ॥

टीका—उस रघु ने बाणों से उत्सव सङ्केत नामक पहाड़ी

क़बीलों को उत्सव रहित (पराजित) कर किन्नरों द्वारा अपनी भुजा की जयकथा को गान कराया ॥ ७८ ॥

परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु ।
राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥७९॥

दण्डान्वयः—तेषु उपायनपाणिषु (सत्सु) परस्परेण राज्ञा हिमवतः सारः हिमाद्रिणा राज्ञः सारः विज्ञातः ।

तेषु = गणेषूपायनयुक्ताः पाणयो येषां तेषु सत्सु । परस्परेण=अन्योन्यं राज्ञा हिमवतः सारः = धनरूपो विज्ञातः । हिमाद्रिणापि राज्ञः सारः = बलरूपो विज्ञातः । एतेन तत्रत्यवस्तूनामनर्घ्यत्वं गणानामभूतपूर्वश्च पराजय इति ध्वन्यते ॥ ७९ ॥

टीका—उन पहाड़ी क़बीलों के हाथ में नज़राना देने के लिए सुवर्ण आदि को लेकर आने पर परस्पर—राजा ने हिमालय के सार (धन) को और हिमालय ने राजा रघु के सार (बल) को—जाना ॥ ७९ ॥

१९१८ { तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः ।
पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम् ॥८०॥

दण्डान्वयः—तत्र अक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्य सः पौलस्त्यतुलितस्य अद्रेः ह्रियम् आदधानः इव अवरुरोह ।

सः = रघुस्तत्र = हिमाद्रावक्षोभ्यम् = अधृष्यं यशोराशिं निवेश्य = निधाय । पौलस्त्येन रावणेन तुलितस्य चालितस्याद्रेः = कैलासस्य ह्रियमादधानः = जनयन्निव । अवरुरोह = अवततार । कैलासमगत्वैव प्रतिनिवृत्त इत्यर्थः । न हि शूराः परेण पराजितमभियुञ्जन्त इतिभावः ॥८०॥

टीका—उस हिमालय पर अटल कीर्तिसमूह को स्थापित कर रघु रावण से उठाए गए कैलाशपर्वत की ओर (न जाकर) मानो उसे लज्जित करता हुआ, उतरा ॥ ८० ॥

चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः ।
तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥८१॥

दण्डान्वयः—तस्मिन् तीर्णलौहित्ये (सति) प्राग्ज्योतिषेश्वरः तद्गजालानतां प्राप्तैः कालागुरुद्रुमैः सह चकम्पे ।

तस्मिन् = रघौ । तीर्णा लौहित्या नाम नदी येन तस्मिंस्तीर्णलौहित्ये सति । प्राग्ज्योतिषाणां जनपदानामीश्वरस्तस्य रघोर्गजानामालानतां प्राप्तैः कालागुरुद्रुमैः = कृष्णागुरुवृक्षैः सह चकम्पे = कम्पितवान् ॥८१॥

टीका—उस रघु के लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के पार उतरने पर प्राग्ज्योतिष (कामरूप आसाम) का राजा, उनके हाथियों की सिक्कड़ों के बाँधने के स्तम्भरूप हुए काले अगर के पेड़ों के साथ, काँप गया ॥ ८१ ॥

न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम् ।
रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥८२॥

दण्डान्वयः—सः रुद्धार्कम् अधारावर्षदुर्दिनम् अस्य रथवर्त्मरजः अपि न प्रसेहे, कुतः एव पताकिनीम् ।

सः = प्राग्ज्योतिषेश्वरो रुद्धार्कम् = आवृतसूर्यम् । अधारावर्षं च तद्दुर्दिनं च धारावृष्टिं विना दुर्दिनीभूतम् । अस्य = रघो रथवर्त्मरजोऽपि न प्रसेहे । पताकिनीं = सेनां तु कुत एव प्रसेहे । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥८२॥

टीका—वह (कामरूप का राजा) सूर्य को ढँक देनेवाली, वर्षा के बिनाही बादल से घिरे हुए दिन की तरह मालूम पड़नेवाली रघु के रथमार्ग की धूल को भी न सह सका, फिर सेना को कैसे सहता ? ॥ ८२ ॥

१९१२ { तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम् ।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥ ८३ ॥

दण्डान्वयः—कामरूपाणाम् ईशः अत्याखण्डलविक्रमं तं भिन्नकटैः नागैः यैः अन्यान् उपरुरोध भेजे ।

कामरूपाणां नाम देशानामीशोऽत्याखण्डलविक्रमम् = अतीन्द्रपराक्रमं तं = रघुम् । भिन्नाः स्रवन्मदाः कटा गण्डा येषां तैर्नागै = गजैः

साधनैः भेजे। नागान् दत्त्वा शरणं गत इत्यर्थः। कीदृशैर्नागैः? यैरन्यान्= रघुव्यतिरिक्तान्नृपानुपरुरोध। शूराणामपि शूरो रघुरिति भावः ॥८३॥

टीका—कामरूपदेश के राजा ने पराक्रम में इन्द्र को भी मात कर देने वाले उस रघुकी—मदस्रावी हाथियों से जिन हाथियों से अन्य आक्रमणकारियों को रोका था—भेंट देकर सेवा की॥८३॥

१९२२ { कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम्।
रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च पादयोः ॥ ८४ ॥

दण्डान्वयः—कामरूपेश्वरः हेमपीठाधिदेवतां तस्य पादयोः छायां रत्नपुष्पोपहारेण आनर्च।

कामरूपेश्वरो हेमपीठस्याधिदेवतां तस्य=रघोः पादयोश्छायां= कनकमयपादपीठव्यापिनीं कान्तिं रत्नान्येव पुष्पाणि तेषामुपहारेण समर्पणेनाऽऽनर्च=अर्चयामास ॥ ८४ ॥

टीका—कामरूप नरेशने सुवर्ण निर्मित आसन के अधिदेव स्वरूप उस (रघु) के पैरों की, सुवर्णरचित पादासन में फैली हुई, कान्ति की रत्न रूपी पुष्पों को अर्पण करके पूजा की ॥ ८४ ॥

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम्।
रजो विश्रामयन् राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ॥ ८५ ॥

दण्डान्वयः—इति दिशः जित्वा जिष्णुः (सः) राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु रथोद्धतं रजः विश्रामयन् न्यवर्तत।

जिष्णुः=जयशीलः। "ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः" इति ग्स्नुप्रत्ययः। स रघुरिति=इत्थं दिशो जित्वा रथैरुद्धतं रजश्छत्रशून्येषु। रघोरेकच्छत्रकत्वादिति भावः। राज्ञां मौलिषु=किरीटेषु। 'मौलिः किरीटे धम्मिल्ले चूडाकङ्केलिमूर्धजे' इति हैमः। विश्रामयन्। संक्रामयन्नित्यर्थः। न्यवर्तत=निवृत्तः ॥ ८५ ॥

टीका—इस प्रकार दिग्विजय कर विजयशील राजा रघु, राजाओं के छत्र रहित मुकुटों पर रथ से उठायी गयी धूल को झरते हुए, (राजधानी की ओर) लौटे ॥ ८५ ॥

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम् ।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ ८६ ॥

दण्डान्वयः—सः सर्वस्वदक्षिणं विश्वजितं यज्ञम् आजह्रे, सतां—वारिमुचाम् इव—आदानं हि विसर्गाय ।

सः = रघुः सर्वस्वं दक्षिणा यस्य तं सर्वस्वदक्षिणम् । "विश्वजित्सर्वस्वदक्षिणः" इति श्रुतेः । विश्वजितं नाम यज्ञमाजह्रे, कृतवानित्यर्थः । युक्तं चैतदित्याह—सतां = साधूनाम् । वारिमुचां=मेघानामिव । आदानम्=अर्जनं विसर्गाय = त्यागाय हि । पात्रविनियोगायेत्यर्थः ॥८६॥

टीका—इसने सर्वस्व दक्षिणा वाला विश्वजित यज्ञ किया (ठीक है) सज्जनों का—मेघों की तरह—लेना दूसरों को देने के लिए होता है (अर्थात् जिस प्रकार मेघ समुद्र से जल लेता है, अपने लिए नहीं किन्तु वर्षा के लिए, उसी तरह सज्जनों का धन-सञ्चय सत्पात्रों में दान के लिए होता है) ॥ ८६ ॥

१६३६ सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभि-
गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान् ।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान्
राजन्यान् स्वपुरनिवृत्तये ऽनुमेने ॥ ८७ ॥

दण्डान्वयः—सत्रान्ते सचिवसखः काकुत्स्थः गुर्वीभिः पुरस्क्रियाभि शमितपराजयव्यलीकान् चिरविरहोत्सुकावरोधान् राजन्यान् स्वपुरनिवृत्तये अनुमेने ।

काकुत्स्थः = रघुः सत्रान्ते=यज्ञान्ते । 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने धनेऽपि च' इत्यमरः । सचिवानामात्मानां सखेति सचिवसखः सन् । 'सचिवो भृतकेऽमात्ये' इति हैमः । तेषामत्यन्तानुसरणद्योतनार्थं राज्ञः सखित्वव्यपदेशः । "राजाहः सखिभ्यष्टच" । गुर्वीभिः = महतीभिः । 'गुरुर्महत्याङ्गिरसे पित्रादौ धर्मदेशके' इति हैमः । पुरस्क्रियाभिः = पूजाभिः शमितं पराजयेन व्यलीकं दुःखं वैलक्ष्यं वा येषां तान् । 'दुःखे वैलक्ष्ये व्यलीकम्' इति यादवः । चिरविरहेणोत्सुका उत्कण्ठिता अव-

रोधा अन्तःपुराङ्गना येषां तान्। राज्ञोऽपत्यानि राजन्याः क्षत्रियास्तान्। "राजश्वशुराद्यत्" इत्यपत्यार्थे यत्प्रत्ययः। 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः। स्वपुरं प्रति निवृत्तये प्रतिगमनायानुमेने=अनुज्ञातवान्। प्रहर्षिणीवृत्तमेतत्। तदुक्तम्—'म्रौ भ्रौ गस्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति ॥ ८७ ॥

टीका—यज्ञ के बाद मन्त्रियों के मित्र, ककुत्स्थवंशोत्पन्न रघु राजा ने अत्यन्त सम्मान से शान्त हुए पराजय जनित दुःखवाले और बहुत दिन के वियोग के कारण रनिवास की रानियों को उत्सुक बनानेवाले राजाओं को अपनी-अपनी राजधानी की ओर लौट जाने के लिए आज्ञा दी ॥ ८७ ॥

१६१५ १६२५ ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं
सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यम्।
प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रु-
र्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम् ॥ ८८ ॥

दण्डान्वयः—ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं प्रसादलभ्यं सम्राजः, चरणयुगं प्रस्थानप्रणतिभिः अङ्गुलीषु मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरं चक्रुः।

ते=राजानः। रेखा एव ध्वजाश्च कुलिशानि चातपत्राणि च। ध्वजाद्याकाररेखा इत्यर्थः। तानि चिह्नानि यस्य तत्तथोक्तम्। प्रसादेनैव लभ्यं प्रसादलभ्यम्। सम्राज्यः=सार्वभौमस्य रघोश्चरणयुगं प्रस्थाने प्रयाणसमये याः प्रणतयो नमस्कारास्ताभिः करणैः। अङ्गुलीषु मौलिषु केशबन्धनेषु याः स्रजो माल्यानि, ताभ्यश्च्युतैः मकरन्दैः पुष्परसैः। 'मकरन्दः पुष्परसः' इत्यमरः। रेणुभिः परागैश्च। 'परागः सुमनोरजः इत्यमरः। गौरं गौर वर्णं चक्रुः ॥ ८८ ॥

टीका—उन राजाओं ने रेखा ही से ध्वजा, वज्र और छत्र चिह्नवाले, कृपासे पाने योग्य सम्राट् रघु के चक्रवर्ती लक्षणों से

उक्त चरण युगलोंको चलते समयके प्रणामों से, चरण-अङ्गुलियों के किरीटों की मालासे गिरे हुए परागों से सफेद कर दिया ॥८८॥
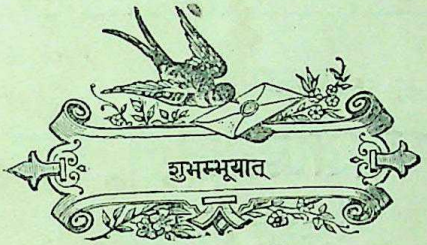
इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीवनी-समाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये रघुदिग्विजयो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥